प्रकाशक—
मिट्ठनलाल कोठारी, पल्लीवाल जैन,
स्वदेशी भंडार
भरतपुर (राजपूताना)

मुद्रक—
सत्यव्रत शर्मा,
शान्ति प्रेस, शीतलागली आगरा।

विषय-सूची

प्रस्तावना

प्रिय पाठकवर्ग !

भूरसुन्दरी विवेक विलास, भूरसुन्दरी बोध विनोद एवं भूर-सुन्दरी अध्यात्मक बोध नामक तीन ग्रन्थों का आप अवलोकन कर चुके हैं, इनके अतिरिक्त "भूरसुन्दरी ज्ञान प्रकाश" नामक एक छोटी सी पुस्तक भी (जो कि अभी थोड़े समय पूर्व ही प्रकाशित हुई है) आपके दृष्टिगोचर हुई होगी। उक्त ग्रन्थों की रचना से पूर्व मुझे तनिक भी सम्भावना नहीं थी कि आप मेरे उक्त ग्रन्थों का इतना बहुमान करेंगे प्रत्युत मुझे तो यही सम्भावना थी कि मेरी यह सर्व कृति पाठक वर्ग के आगे बाल-लीला के समान समझी जावेगी, परन्तु हाँ यह बात नितान्त यथार्थ है कि धीमान् सज्जन नीर क्षीर विवेकी हंस के तुल्य होते हैं जो कि दोषों का परित्याग कर तत्त्व का ही ग्रहण करते हैं, बस यही कारण है कि उन्होंने मेरी जैसी विद्या-बुद्धि-विहीन व्यक्ति की कृतियों में भी त्रुटियों और दोषों की ओर ध्यान न देकर किन्तु–"बालादपि ग्रहीतव्यं युक्ति युक्तं मनीषिभिः" इस वाक्य का अनु-सरण कर पूर्वोक्त कृतियों में से सार भाग का ग्रहण कर मुझे कृतार्थ किया। सज्जनों का जब यह पूर्वोक्त स्वाभाविक गुण है तो उनको ऐसी दशा में अपनी कृति का बहुमान करने के लिये धन्यवाद देने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है, हाँ इतना कह देना अत्यन्त आवश्यक है कि सत्पुरुष पाठक वर्ग यदि इसी प्रकार भविष्यत् में भी मुझे अपनी अबोध बालिका जान मेरी कृति को अपनाते रहेंगे तो मैं उन की कृपा से कृतार्थ हो उनकी चिर बाधित रहूंगी।

इस प्रकार अपनी कृति का बहुमान देख उत्साह में भर कर कतिपय सज्जनों के अनुरोध से यह "भूरसुन्दरी विद्या विलास" ग्रन्थ और भी तैयार कर पाठक वर्ग की सेवा में समर्पित किया जाता है, आशा है कि सज्जन पूर्वानुसार इसे भी अपनाकर मुझे कृतार्थ करेंगे।

इस ग्रन्थ के सेवा में समर्पण करने से पूर्व "भूरसुन्दरीज्ञान प्रकाश" नामक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की जाकर पाठकों की सेवा में अर्पित की जा चुकी है, उक्त पुस्तक मुख्यतया-नारीगुण सम्पन्ना, महासुशीला एवं सतीवर्या श्री चाँपावत जी साहिबा (धर्मपत्नी धर्ममूर्त्ति श्री कर्णसिंह जी साहब श्रीगढ़ी सर्दार राज्य अलवर) के अनुरोध से बनाई गई थी अतः रचना के पश्चात् उन्हीं के कर कमलों में समर्पित भी की गई तथा उन्हीं के द्वारा प्रकाशित की जाकर पाठकवर्ग एवं मुख्यतया पाठिकावर्ग की सेवा में पहुँचाई गई, उक्त पुस्तक मुख्यतया स्त्री-जाति के हित के लिये निर्मित की गई थी अतः जैन समाज के लिये कुछ आवश्यक उपयोगी विषय का उपन्यासकर मुख्यतया उसमें स्त्री-शिक्षा का विषय रक्खा गया था आशा है कि उसका पठन और मनन कर स्त्री जाति अवश्य लाभ उठावेगी।

खेद से कहना पड़ता है कि जिन सज्जनों के अनुरोध से यह (भूरसुन्दरी विद्या विलास) ग्रन्थ लिखा गया था उन सज्जनों की शीघ्र प्रकाशन के लिये अतिशय प्रेरणा होने पर भी संशोधन और लेखन आदि कार्य में अत्यधिक विलम्ब हो जाने से इसके प्रकाशन में शीघ्रता न होसकी और उन्हें इसकी कई मास तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। आशा है कि अनुरोधकर्त्ता सज्जन विवशता को विचार कर इस विलम्ब के लिये क्षमा करेंगे। अनुरोधकर्त्ता सज्जनों के अभिप्राय की ओर लक्ष्य लेजा कर इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण रक्खे गये हैं इन में प्रथम प्रकरण में पहिले विविध भाषा-छन्दों में चौबीसों श्री जिनराज के स्तवन लिखे गये हैं जिनका भाव पूर्वक पठन और मनन करने से आत्मा को भक्ति रस के द्वारा शान्ति लाभ की सम्भावना है, इसके पश्चात् शास्त्र-सिद्धान्त रत्नावली में श्री जैन शास्त्र सम्बन्धी उपयोगी अनेक विषय शास्त्रीय प्रमाण पूर्वक लिखे गये हैं जिनके पढ़ने से साधारण जनों को भी बहुत से आवश्यक उपयोगी विषयों का ज्ञान हो सकता है।

द्वितीय प्रकरण में पहिले जैन सम्बन्धी उपयोगी प्रश्नोत्तर लिखे गये हैं कि जिनमें प्रश्नोत्तर रूप में अत्यावश्यक अनेक उपयोगी विषयों का निदर्शन किया गया है, तदनन्तर सम्यक्त्व का विवेचन करते हुए यह दिखलाया गया है कि साधु-धर्म का सेवन करने के लिये कौनसा साधु अधिकारी व अनधिकारी है, इसके अतिरिक्त अन्त में सम्यक्त्व का ठेका लेने वालों के विषय में भी उनकी अधिकारिता वा अनधिकारिता का भी कुछ विवेचन किया गया है।

तीसरे प्रकरण में प्रथम जैन सिद्धान्त के अनुकूल सर्वज्ञ सम्मत मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल, इन पाँचों ज्ञानों का वर्णन यथा सम्भव विस्तार पूर्वक शङ्का समाधान के सहित सरल भाषा में किया गया है कि जिसके पढ़ने से साधारण लोग भी सहज में उक्त ज्ञानों के स्वरूप और भेद आदि को भले प्रकार जान सकते हैं, इसके अनन्तर जैनन्याय का दिग्दर्शन किया है कि जिस में प्रथम-कणाद, गौतम, बुद्ध और चार्वाक आदि के मन्तव्यों को दिखलाकर उनका युक्ति और प्रमाण आदि के द्वारा सविस्तर खण्डन किया गया है, तदनन्तर जैन-सिद्धान्त के अनुसार अनेकान्त पक्षावलम्बी जैनन्याय का संक्षेपतया वर्णन किया गया है।

पूर्वोक्त विषयों से परिकलित होने पर भी पुस्तक की उपयोगिता वा अनुपयोगिता के विषय में कुछ न लिखकर इसका निर्णय विज्ञ पाठक वर्ग के ही विचार पर निर्भर किया जाता है, हाँ प्रसङ्गानुसार यहाँ पर इतना लिख देना अत्यावश्यक है कि इस पुस्तक से प्रायः उन्हीं सज्जनों को लाभ पहुँच सकता है कि जिनकी शास्त्रीय विषय में अभिरुचि और जिज्ञासा है किन्तु जो लोग निरे किस्से कहानी के प्रेमी हैं शास्त्रीय विषय में जिनकी रुचि नहीं है वा न्यून है तथा गम्भीर विषयों में जिनकी चित्त वृत्ति स्थिर नहीं होती है उनको इस पुस्तक से लाभ नहीं पहुँच सकता है, शास्त्रीय सिद्धान्त के विषय में रुचि रखने वाले भी आत्मकल्याणार्थी सज्जनों से भी

यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि तृतीय प्रकरण के पञ्च-ज्ञान वर्णन तथा जैन-न्याय-दिग्दर्शन, ये दोनों ही विषय विस्तृत होगये हैं ऐसा होना इसलिये आवश्यक भी था कि विस्तार के विना उक्त विषयों का विवेचन ठीक रीति से नहीं हो सकता था अतः विज्ञ पाठकवर्ग सावधान चित्त होकर शान्ति-पूर्वक उक्त दोनों विषयों का अवलोकन करें, ऐसा करने से ही लाभ की सम्भावना है।

इस पुस्तक के मुद्रण में अलवर निवासी, परम धर्मशील श्रीयुत लाला छोटेलाल जी पालावत ने अपनी उदारता के द्वारा पूर्णतया आर्थिक सहायता प्रदान कर अनुग्रहीत किया है एतदर्थ उक्त महाशय को विशुद्ध भाव से धन्यवाद प्रदान किया जाता है।

पूव ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ के भी प्रकाशन और प्रचार में सहायता देने वाले—भरतपुर-निवासी धर्मशील श्रीयुत लाला सिट्ठन-लाल जी कोठारी पल्लीवाल जैन भी धन्यवादार्ह हैं कि जो लोकोपकार के लिये परिश्रम का विचार न कर अपने अमूल्य समय को परमार्थ में लगाते हैं।

पूर्व ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का भी संशोधन श्रीमान् विद्वद्वर श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री (भूतपूर्व संस्कृत प्रधानाध्यापक श्री डूंगर कालेज-बीकानेर) ने किया है एतदर्थ उक्त पंडित जी महानु-भाव को विशुद्ध भाव पूर्वक अनेकशः धन्यवाद प्रदान किया जाता है।

अन्त में विज्ञवर पाठक जनों से यह निवेदन कर देना समु-चित है कि इस ग्रन्थ में जो जो त्रुटियाँ हों उनकी ओर ध्यान न देकर किन्तु उन्हें सुधार कर सार भाग का ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत करें।

यदि इस ग्रन्थ के पठन, श्रवण, अवलोकन और मनन करने से पाठक जनों को अध्यात्म विषय में कुछ भी लाभ होगा तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगी।

भाद्रपद शु० २
सं० १९८६ वि०

सज्जनों की कृपा-अभिलाषिणी—

आर्या भूरसुन्दरी

करौली (राजपूताना)

❀ श्री पञ्चपरमेष्ठिने नमः ❀

* श्री सद्गुरुभ्योनमः *

मङ्गलाचरण

दुष्टारिष्टानि दृष्टेऽप्यकृत विकृति कान्येवानेर्नामकानि ।
त्तीयन्तेदत्तमदृणां प्रविकसनकृतिप्राणियूथस्य यत्र ॥
नैशानीवांशुमालिन्यलिकुलमालिनान्यन्धकाराणि बन्धोः ।
ऊर्ध्वाधोमध्यलोकश्रितजनसमितेरास्यमस्यत्वघं तत् ॥१॥
निर्वाणपूर्वं देश प्रगम कृतधियां शुद्धबुद्धयध्वगानाम् ।
मार्गाचिरन्यासपेपा त्रिभुवन विभुना प्रेषिता किंनु लोकैः ॥
आलोच्यारेकितेवं चरणनखभवा वो विभात्रिर्भवन्ती ।
यस्य श्रेयांसि स श्री जिनपतिरपतिः पाप्मभाजां विदध्यात् ॥२॥
निःसीमभीमभव सम्भवरूढगूढ-सम्मोहभूवलयदारणसारसीरम् ।
वीरं कुवासमलहारि सुवारिपूरमुत्तुङ्ग भारि करि केसरिणंनमामि ॥३॥
इच्छामहा सलिल काम गुणाल बालम् ।
चिन्तादलं समलचित्त मही समुत्थम् ॥
सम्भोग फुल्लमिव मोह तरुं लसन्तम् ॥
हे वीर सिन्धुर समुद्धर मे समूलम् ॥४॥
स्थितायाः स्वर्गे वै निखिल शुभज्ञानद्युति भृतः ।
गुरोः पादाम्भोजे सविनति समानम्य शिरसा ॥
सुचम्पारव्यायावैभवजन हितार्थं च विदधे ।
ऋजुं ग्रन्थं चैतं विमति विभवा भूरिसुंदरी ॥५॥

अर्थ—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक निवासी जन-समुदाय के बन्धु (श्रीजिनराज) का वह मुख पाप को दूर करे कि जो (मुख) प्राणि समुदाय के नेत्रों को दर्शन से विकसित करता है तथा

जिसके दर्शन मात्र से दुष्ट अरिष्ट[१] विना विकार किये ही इस प्रकार शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और उनका नाम भी शेष नहीं रहता है जैसे कि सूर्य के उदय होने से भ्रमर समुदाय के समान मलीन[२] रात्रि के अन्धकार नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

जिनका पति कोई नहीं[३] है वे श्री जिनपति पापी जनों का कल्याण करें कि जिनके चरणों के नखों की प्रकट हुई प्रभा[४] को देख कर लोग यह शङ्का करते हैं कि त्रिलोकी के स्वामी ने क्या इसे मोक्ष रूपी अपूर्व देश को जाने के लिये यात्रियों को मार्ग वतलाने की इच्छा से भेजा है ॥२॥

मैं श्री वीर स्वामी को नमस्कार करती हूं कि जो (वीर स्वामी) सीमारहित, भयंकर संसार में उत्पन्न हुए अति कठिन सम्मोह रूपी भूमण्डल का विदारण करने के लिये लोहे के हल के समान हैं, कुवासनाओं[५] के मल को धोने के लिये सुन्दर जल-प्रवाह के समान हैं तथा प्रवल[६] कामदेव रूपी हाथी का नाश करने के लिये सिंह के समान हैं ॥३॥

हे वीर शिरोमणे ! आप मेरे विलास करते हुए मोह रूपी वृक्ष को मूल के सहित उखाड़िये कि जिसके काम रूपी आलवाल[७] में इच्छा रूपी वहुत सा जल भरा है, जिसके चिन्ता रूपी पत्ते हैं, जो मलीन चित्त रूपी पृथिवी में उत्पन्न हुआ है तथा जिसके सम्भोग रूपी फूल हैं ॥४॥

सम्पूर्ण शुभ ज्ञान की शोभा को धारण करने वाली तथा देवलोक में विराजमान श्री चम्पाजी नामक गुरु के दोनों चरण कमलों को विनय पूर्वक शिर से प्रणाम कर संसारी जनों के हित के लिये मैं निर्बुद्धि[८] भूरिसुन्दरी इस सरल ग्रन्थ को वनाती हूं ॥ ५ ॥

१—विघ्न, पाप । २—कृष्ण (काले) । ३—अर्थात् जो स्वयं सबके पति हैं । ४—कांति, प्रकाश । ५—कुसंस्कारों । ६—बलवान् । ७—गड्ढा । ८—बुद्धि से रहित ।

भूरसुन्दरी विद्या विलास

प्रथम प्रकरण

१—श्री चौबीस जिनस्तवन

श्री ऋषभदेव-स्तवन

राग धनाश्री

दयानिधि करदो वेड़ा पार ॥ टेक ॥
तुम स्वामी हो सकल जगत् के, निखिल विश्व आधार।
घट घट की तुम वेदन जानत, करत दीन उद्धार ॥
दयानिधि करदो वेड़ा पार ॥ १ ॥
सकल विश्व कहँ तुम ही पोषत, ताकी करत सँभार।
मुनिजन सब ही तुवगुण गावत, करत आत्म उद्धार ॥
दयानिधि करदो वेड़ा पार ॥ २ ॥
जगमाया के फन्दहिं फँसि नर, भूलत तुव हितसार[१]।
ज्ञानी जन तव भक्ति निरत[२] है पावत निरुपम सार[३] ॥
दयानिधि करदो वेड़ा पार ॥ ३ ॥
पाप-पुन्ज[४] को तिमिर छयोहिय, सूझत आर न पार।
विद्या ज्योति पसारहु स्वामी, भव-दुख होवहिं छार[५] ॥
दयानिधि करदो वेड़ा पार ॥ ४ ॥

१—सुन्दर। २—तत्पर। ३—हित। ४—समूह ५—नष्ट।

आदितीर्थंकर ऋषभदेवजी, मेरी सुनहु पुकार।
जन्म मरण प्रभु वेगि निवारहु, आदिनाथ हितकार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ५॥

विनिता नगरी जन्म लियो तुम, सुन्दर वंश उदार।
नाभि पिता मरु देवी मातहिं, दीन्हो मोद अपार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ६॥

वृषभ स्वप्न मरुमाता देख्यो, ऋषभ नाम निरधार।
आदिदेव कहलावत आदी, कियो धर्म परचार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ७॥

पञ्च धनुः शत देह आयु पुनि, लक्ष चुरासी सार।
कञ्चन वरन विराजत वपु शुभ, वृषभ चिन्ह निरधार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ८॥

शत पुत्रन में ज्येष्ठ भरतजी, आरिस भुवन मँझार।
पायो केवल ज्ञान अनूपम, सब ज्ञानन में सार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ९॥

शेषतनय[1] वर दीक्षा लीन्ही, पायो केवल सार।
केवल पाय परम पद पायो, तनिक न लागी वार[2]॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १०॥

वायुयान सरवारथ सिद्धा, वंश इक्ष्वाकु उदार।
कृष्ण अषाढ़ चतुर्थी–च्यवना, प्रभुजी को निरधार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ ११॥

जनम चैत्र बदि नौमी तिथि को, आठम दीक्षासार[3]।
फागुन कृष्ण ग्यारस सुन्दर, पायो केवल सार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १२॥

१—पुत्र। २—देर। ३—उत्तम।

मोक्ष भयो प्रभु अष्टापदगिरि, अष्टम तप निरधार।
अयुत[1] साधु संख्या प्रभुवर की, महिमा परम अपार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १३॥

माघ बदी शुभ तेरस धनि धनि, कर्म भये सब छार।
मोक्ष नगर प्रभु जाय विराजे, धनि महिमा वेपार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १४॥

सकल मुनीजन तुवगुण गावत, प्रभुजी बारहिंबार।
पावत अमित[2] मोद[3] प्रभुवरजी, महिमा तुव वेपार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १५॥

भूरसुन्दरी टेर सुनहु प्रभु, ध्यावत तुव पद सार[4]।
नाथ सुनहु अब वेगि दया करि, तारो भवनिधि पार॥
दयानिधि करदो बेड़ा पार॥ १६॥

श्री अजितनाथ-स्तवन

(राग गज़ल)

अजितनाथ जिनवर प्रभु स्वामी, सकल जीव उपकारी हैं।
पुरी अयोध्या जन्म लियो पितु, ज़ित शत्रू वलिहारी हैं॥ १॥
धन्य धन्य है विजयारानी, कोख भये अवतारी हैं।
सार्धवेद[5] शतधनुः प्रमाणा, देहमान वलिहारी हैं॥ २॥
पूर्व बहोतर लाख आयु जसु, कनक[6] वरन छवि भारी है।
करि[7] को लञ्छन[8] शोभ अपूरव, नख शिख जोती सारी[9] है॥३॥
वायुयान[10] अन उत्तर प्रभुको, वंश इक्षाकू भारी है।
माधव[11] शुक्ल त्रयोदशि तिथि को, च्यवन अपूरव भारी है॥४॥

१—दश हज़ार। २—वे परिमाण। ३—आनन्द। ४—उत्तम। ५—साढे चार। ६—सुवर्ण (सोना)। ७—हाथी। ८—चिन्ह। ९—उत्तम
१०—विमान। ११—वैशाख।

आठम शुक्ल माघ की धनि धनि, जनम भई अधिकारी है ।
माघ शुक्ल नवमी प्रभु दीक्षा, लीन्ही कर्म संहारी है ॥ ५ ॥
पौष शुक्ल ग्यारस शुचि[1] तिथि को, केवल पायो भारी है ।
मोक्ष भयो सम्मेत शिखरि पर, मास खमण तप भारी है ॥६॥
चैत्र शुक्ल पांचम मुक्ति श्री, प्रभु मिल भई सुखारी है ।
सहस साधु परिषद[2] प्रभुजी की, महिमा अमित[3] अपारी है॥७॥
भूरीसुन्दरि विनय करत है, नाथ सकल उपकारी है ।
भव जलनिधि[4] तें पार उतारो, हमरी यही पुकारी है ॥ ८ ॥

श्री सम्भवनाथ-स्तवन

(राग सारङ्ग)

जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ टेक ॥

सोई कुलीन वड़ो सुन्दर सोई, जिस पर कृपा करें ।
करत उधार छनिक महँ प्रभुवर, भव दुख दूरि करें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ १ ॥

सावत्थी पुरि जनम लियो नृप, जीतरि मोद[5] भरें ।
सेन मातु को मोद बढ़ायो, सुरगण मोद भरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ २ ॥

देशहु काल दुखित हो जव ही, गरभ प्रभू विहरें ।
गर्भ प्रभाव मिट्यो दुपकालहुँ, शस्य[6] मही[7] सुभरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ३ ॥

साठ लाख पूरव आयू तनु, धनु शत चारि धरें ।
कनक वरन प्रभु तनु को राजत, लञ्छन अश्व[8] धरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ४ ॥

१—पवित्र । २—सभा । ३—बेपरिमाण । ४—समुद्र । ५—आनन्द ।
६—अन्न । ७—पृथ्वी । ८—घोड़ा ।

व्योसयान[1] सतमो ग्रैवेयक, वंश इछाकु धरें ।
च्यवन प्रभू फागुन सुदि आठम, ध्यावत मोद भरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ५ ॥
जनम लियो मिगसिर सुदि चौदस, सुर नर मोद भरें ।
ताहिमास की पूनम तिथि को, दीक्षा सौम्य[2] धरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ६ ॥
कातिक कृष्णा पाँचम लीन्हों, केवल ज्ञान वरें ।
मास समण तपसा मुक्ति श्री, गिरि सम्मैत वरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ७ ॥
सहस एक मुनि संख्या प्रभु की, दरशन मोद भरें ।
सम्भवनाथ सुमिरि ले जिवड़ा, तुरतहिं पार करें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ८ ॥
तारे नाथ अनेक भविक जन, मोच्छ सुमोद भरें ।
धन्य धन्य है प्रभुवरजी को, ध्यावत तुरत ढरें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ ९ ॥
ढरि ढरि के प्रभु तारे अनेकहुँ, अब किमि देर करें ।
करहु दया अब भूराँ दासी, टेरि पुकार करें ॥
जापर सम्भवनाथ ढरें ॥ १० ॥

श्री अभिनन्दन नाथ-स्तवन

(गज़ल)

अरे इकदम न हो ग़ाफ़िल, ये दुनियां छोड़ जाना है ॥
बगीचे छोड़ कर खाली, ज़मी अन्दर समाना है ॥ १ ॥
बदन नाज़ुक गुलों जैसा, जो लेटे सेज फूलों पर ॥
होगा एक दिन मुरदा, यहीं कीड़ों ने खाना है ॥ २ ॥

१—विमान । २—सुन्दर ।

न बेली[1] होयगा भाई, न बेटा बाप ना माई।
क्यों फिरता है तू सौदाई[2], करम ने काम आना है॥ ३॥
फ़रिस्ते रोज़ करते हैं, मुनादी[3] चार खूटों में।
महल्ला ऊंचियों वाले, जहाँ को छोड़ जाना है॥ ४॥
नज़र कर देखलो प्यारे, पड़ी जो माड़ियाँ खाली।
गये सब छोड़ यह फ़ानी, दग़ाबाज़ी का बाना है॥ ५॥
ग़लतफ़हमी है यह तेरी, नहीं आराम इस जग में।
मुसाफ़िर बेवतन है तू, कहाँ तेरा ठिकाना है॥ ६॥
नज़र भर देखलो प्यारे, नखेशों में कोई तेरा।
जनों पर जंग सब कूके, किसे तुझ को छुड़ाना है॥ ७॥
तमाशी रैन ग़फ़लत में, गुज़ारें चारपाई पर।
गुज़ारें रोज़ खेलों में, वृथा आयू गमाना है॥ ८॥
य होंगे सर बसर लेखे, हश्र के रोज़ अय गाफ़िल।
य दोज़ख़ बीच बद अमली, से तन अपना जलाना है॥ ९॥
भजन भगवान् बिन सूना, निरा तेरा य जीवन है।
इसी से टेर कहती हूं, तुझे परलोक जाना है॥१०॥
प्रभू अभिनन्द तारक हैं, लगाले ध्यान तिनका ही।
सकल कल्यान होगा रे, सकल जग तो बिगाना है॥११॥
जनम पायो अजुध्या में, संवर नृप गेह में स्वामी।
सिधारथ मातु दरशन से, सकल शुभ मोद माना है॥१२॥
रहे जब गर्भ में स्वामी, किया भगवान इन्द्रहु ने।
प्रभू माता को वन्दन जो, प्रभू गौरव पिछाना है॥१३॥
गरभ परभाव यह देख्यो, पिता मन मोद पाया तब।
यही तें नाम अभिनन्दन, दियो मन में रिझाना है॥१४॥

१—साथी। २—पागल। ३—घोषणा।

धनुः शत तीन अरु आधा, प्रभू को देह लो जानी ।
पाँच शत लाख पूरव को, प्रभू को आयु माना है ॥१५॥
कनक शुभ वर्ण है तनुको, कपी[1] को चिन्ह है शोभित ।
इक्ष्वाकू वंश नभयाना[2], जयंत सब ने बखाना है ॥१६॥
च्यवन वैशाख शुक्ला में, चतुर्थी जन्म पुनि स्वामी ।
द्वितीया माघ शुक्ला को, लियो जग मोद माना है ॥१७॥
द्वादशी माघ शुकला को, करम रज नाश के हेतू ॥
लई दीक्षा प्रभूवर ने, मुनी जन मोद माना है ॥१८॥
चतुर्दशि पौष सुदि की हू, सकल वस्तू निदर्शक[3] यह ।
लियो केवल प्रभूवर ने, सकल कर्मा नशाना है ॥१९॥
तपस्या मास खमण की, शिखरि सम्मेतनी के पर ।
सिता ठम राध[4] में स्वामी, अहा निर्वान पाना है ॥२०॥
सहस इक साधु संख्या थी, प्रभूवर की जगत जानी ।
को महिमा कहि सकै प्रभु की, फणी शेषहु थकाना है ॥२१॥
भुरां तुव नाथ दासी है, ज़रा मेरी खबर ले लो ।
अरज सुनलो तुरत स्वामी, तुम्हीं मन लायो ध्याना है ॥२२॥
मेरी नैया को भवदधितें[5] उतारो पार हे स्वामी ।
सकल जग हेरि मैं देख्यो, सहायक तुमको जाना है ॥२३॥

श्री सुमतिनाथ स्तवन

(राग देश)

ज़रा टुक सोच ऐ ग़ाफ़िल, कि दम का क्या ठिकाना है ।
निकल जब यह गया तन से, तो सब अपना बिगाना है ॥ १ ॥

१—बन्दर । २—विमान । ३—सब वस्तुओं का ज्ञान कराने वाला । ४—वैशाख । ५—संसार समुद्र ।

मुसाफ़िर है तू औ दुनियाँ, सराँ है भूल मत ग़ाफ़िल ।
सफ़र परलोक का आख़िर, तुझे दरपेश आना है ॥ २ ॥
लगाता है हवश दौलत पै, क्यों तू दिल को अब नाहक ।
न जावे संग कुछ हरगिज़, यहीं सब छोड़ जाना है ॥ ३ ॥
न भाई बन्धु है कोई, न कोई आशना अपना ।
बखूबी ग़ौर कर देखा, तो मतलब का ज़माना है ॥ ४ ॥
करो सुमिरन सदा सुमती, प्रभु को जो शफा चाहो ।
करो नहिं देर पल भर भी, नहीं आखिर लजाना है ॥ ५ ॥
अयोध्या नग्री में जन्मे, नृपतिवर मेघरथ के जो ।
सुमंगल मातु कहँ दीन्हों प्रभूवर मोद नाना है ॥ ६ ॥
पुरव लख चालिसी आयू, कनक शुभ वर्ण है जिनका ।
है लञ्छन क्रुञ्च का तनु तो, धनुः शततीन माना है ॥ ७ ॥
इछाकूवंश लै जनमा, प्रभू दीन्हीं सकल महिमा ।
जयँत शुभनाम से ख्याता, प्रभू को व्योमयाना है ॥ ८ ॥
च्यवन सावन सुदी दूजी, जनम वैशाख सुद आठम ।
दिछा वैशाख सुदि नौमी, गही किरपा निधाना है ॥ ९ ॥
सुदी ग्यारस जो चैतर की, है पूज्या सर्व तिथियों में ।
कि जिसमें है प्रभू पाया, केवल नामी सुज्ञाना है ॥ १०॥
शिखरि सम्मेत पर स्वामी, तपस्या मास खमणा की ।
करी सुदि चैत्र नौमी को, प्रभू पायो निर्वाना है ॥ ११॥
सहस इक साधु संख्या सो, प्रभूवर की सकल जानी ।
कहूं महिमा मैं उनकी क्या, सकल संसार जाना है ॥१२॥
अरज यह भूर सुन्दर है, करै प्रभुवर्य तुव दासी ।
शरण अपना इसे दीजे, नहीं दूसर ठिकाना है ॥ १३॥

श्री पद्मप्रभु स्तवन

(राग कालिंगड़ा)

भज मन पद्म प्रभू जगपाल ॥ टेक ॥

गोल कपोल अधर बिंबाफल, लोचन परम विशाल।
शुक नाशा भौं दूज चन्द सम, अति सुन्दर है भाल ॥भज मन०॥१॥
मुकुट चन्द्रिका शीस लसत है, घुंघुरारे वर बाल।
रतन जटित कुंडल कर कंकण, गल मुतियन की माल ॥भजमन०॥२॥
पग नूपर मणिखचित बजत जब, चलत हंस गति चाल।
रक्त पद्म[1] वत तनु है शोभित, कर नख जोति विशाल॥भज मन०॥३॥
मृदु मुसिकान मनोहर चितवन, बोलत अधिक रसाल।
पद्मप्रभू की बालछबी जन, निरखत होत निहाल ॥भज मन०॥४॥
कोशम्बी नगरी प्रभु जनमे, श्रीधर नृप जगपाल।
मातु सुसीमा रानी कहिये, जिहिकर शील विशाल[2] ॥भज मन०॥५॥
आय प्रभू जब गरभ विराजे, मातु भयो दो हाल[3]।
पद्म सेज पर सोऊँ मैं तो, सुर पूर्यो ततकाल ॥भज मन०॥ ॥
रक्तवरन कंज[4] देह प्रभू को, शोभा परम विशाल।
सार्ध युग्म शत[5] धनुः प्रमाना, प्रभुवर देह विशाल ॥भज मन०॥७॥
लाख तीन पूरव की आयू, लञ्छन पद्म सुहाल।
वंशइक्ष्वाकु ग्रवेयक पाना, प्रभु को परम विशाल ॥भज मन०॥८॥
माघवदी छठ च्यवन प्रभू को कहत मुनी शुभ चाल।
कातिक कृष्ण दुआदशि जन्मे, कियो सवन नीहाल ॥भज मन०॥९॥
कातीवद तेरस लइ दीक्षा, नसे करम बिकराल।
चैत सुदी पूनम प्रभु पायो, केवल ज्ञान विशाल ॥भज मन०॥१०॥

१—कमल। २—बड़ा। ३—दोहद। ४—कमल। ५—ढाईसौ।

मोच्छ सुथान समेतशिखर गिरि, गिरवर परम विशाल ।
मास खमण तप प्रभुवर कीन्हों, नस्यो कर्म को जाल ॥भज मन०॥११॥
मुनि संख्या शत तीन अठोतर[1], जिन छेद्यो सब जाल ।
मृगशिर कृष्ण इकादशि प्रभुजी, लियो मोच्छ खुशहाल॥भज मन०॥१२॥
भूरसुन्दरी अरज करत प्रभु, संसृति[2] भई विहाल ।
करहु दया प्रभुवर मम मेटहु, सकल करम को जाल ॥भज मन०॥१३॥
शरण गही प्रभु तुम्हरी मैं तो, जान्यो दीनदयाल ।
अब क्यों देर लगावत स्वामी, तुरतहि करहु निहाल ॥
भज मन पद्म प्रभू जगपाल ॥१४॥

श्री सुपार्श्वनाथ स्तवन ।

(रागधनाश्री)

कब तुम मो सम पतित उधारी ॥ टेक ॥

पतितन में विख्यात पतित हौं, पावन कीर्त्ति तुम्हारी ।
भाजै नरक नाम सुनि मेरो, ऐसी निपट दुखारी ॥कब तुम०॥ ॥१॥
क्षुद्र पतित तुम तारि सुपारस, प्रभु जनि[3] होहु सुखारी ।
मुझ पतिता को ठौर नहीं कहुँ, यातें करत पुकारी ॥कब तुम०॥ ॥२॥
सुनहु टेर प्रभुवर तुम मेरी, हुइ हौं तवहिं सुखारी ।
नगरि वनारसि जनम लियो, तुम सुप्रतिष्ठ नृपभारी॥कब तुम०॥ ॥३॥
पृथिवी रानी माता तुम्हरी, जनमे भई सुखारी ।
उभय पार्श्व[4] मातुःश्री के थे, रुगन विथा थी भारी॥कब तुम०॥ ॥४॥
गर्भ विराजत तुम्हरे स्वामी, नस्यो रोग सब भारी ।
भये सुकोमल कंचन वरना, प्रभु महिमा तुव भारी॥कब तुम०॥ ॥५॥

१—तीन सौ आठ । २—संसार में । ३—मत । ४—दोनों पसवाड़े ।

यहितें संज्ञा भई सुपारस, सौम्य[1] प्रभूवर थारी।
धनुः शतद्वय तुव तनु माना, शोभा अमित अपारी ॥कव तुम०॥॥६॥
आयू वीस लाख पूरवकी, कनक वरन छवि भारी।
स्वस्तिक चिह्न विराजत नीको, सब लखि होंहिं सुखारी॥कवतुम०॥॥७॥
वंश इक्ष्वाकू जनम लियो तिहि, दीनी महिमा भारी।
ग्रैवेयक अष्टम प्रभुवर तुव, व्योमयान[2] अतिभारी॥कव तुम०॥॥८॥
भादौं कृष्णा आठमतिथिको, च्यवन भयो दुख हारी।
जनम जेठ सुदि वारस प्रभु को, लखि सव भये सुखारी॥कवतुम०॥९॥
जेठ सुदी तेरस लइ दीक्षा, दृढ भक्ती उर धारी।
फागुन कृष्णा छठ को उपज्यो, केवल ज्ञान अपारी ॥कव तुम०॥१०॥
मुक्ती थान समेत शिखरि है, शोभा परम अपारी।
मास खमण तपसा प्रभु कीन्हीं, दिये कर्म सब जारी ॥कव तुम०॥११॥
मुनि संख्या शत पञ्च प्रभू की, जिहि महिमा अतिभारी।
फागुन कृष्णा सातम मुक्ती, श्री प्रभु पाइ सुखारी॥ कव तुम०॥१२॥
भूराँसुन्दरि टेर सुनहु प्रभु, देवो कर्मन जारी।
भव जल पार लगाओ स्वामी,तुम सन करत पुकारी॥कव तुम०॥१३॥

श्रीचन्द्र प्रभु स्तवन

(राग जंगला)

आली मोहिं लागत चन्द्रा प्रभु नीको ॥ टेक ॥
नख शिख जोति अपार विराजे, प्यारी लागत जीको।
वदन विलोकत प्रभुवरजी को, चन्द्रहुँ लागत फीको ॥आली० ॥१॥
चन्द्र पुरी महँ जनम लियो प्रभु, महासेन गृह नीको।
लछमनिदेवि सनाथ भई तब, मोद भयो शुभ जीको ॥आली० ॥२॥

१—सुन्दर। २—विमान।

गर्भ आप जब प्रभू विराजे, मातु भाव हुव जी को।
चन्द्रपान करूं मैं सुन्दर, पूर्यो गन्त्रि सुधी को ॥आली० ॥३॥
गर्भ प्रभाव विलोकि नृपतिवर, दियो नाम शुभ नीको।
सार्धधनुःशत तनु अरु पूरव, आयू दश लख नीको ॥आली० ॥४॥
श्वेत वरन छवि सब मन मोहत, लञ्छन चन्द्र सुनीको।
वंश इक्ष्वाकु अनुत्तर याना, वैजयन्त शुभ नीको ॥आली० ॥५॥
मधुवदि पाँचम च्यवन कियो प्रभु, प्राणिन हेत सुनीको।
पौष वदी बारस तिथि जनमे, बढ्यो मोद सब जीको ॥आली० ॥६॥
दीक्षा तेरस पौष वदी लइ, जानि जाल सब फीको।
फागुन कृष्णा सातम उपज्यो, केवल ज्ञान सुनीको ॥आली० ॥७॥
शिखरि समेत मोच्छथल प्रभु को, सब शिखरनि सहँ नीको।
मासखमण तप कीन्हों प्रभुवर, करत विमल जो धीको ॥आली०॥८॥
एक सहस मुनि संख्या जानहु, जसु सब कृत्य सुनीको।
भाद्र वदी सातम निर्वाना, लह्यो सौम्य गुनि नीको ॥आली० ॥९॥
आर्या भूराँसुन्दरि दासी, भाव भनत यह जीको।
तारहु भव जल चन्दा प्रभुजी, लागत भव मोहि फीको ॥आली० १०॥
जग माया अरु बन्धन ताको, है सब नाथ अली को।
हो भव तारक तुमही स्वामी, तुव सरनो मम जीको ॥आली० ११॥

श्री सुविधिनाथ स्तवन

(राग विहागरा)

हृदय मो सुविधि प्रभू धुनि रटी ॥ टेक ॥
विनु तुव नाथ विथा या तन की, कैसे जात कटी।
आपनि रुचि जितही तित खेंचत, इन्द्रियग्राम गंटी ॥हृदय मो०॥१॥
होति नहीं उटि चलत कपट लगि, बांधे नयन पटी।
झंठो मन झूंठी यह काया, झंठी आरभटी ॥हृदय मो० ॥२॥

अरु झूठन के वदन[1] निहारत, मारत फिरत नटी।
दिन दिन हीन छीन भइ काया, दुख जंजाल जटी ॥हृदय मो० ॥३॥
चिन्ताभइ अरु भूख भुलानी, नींद फिरत उचटी।
मगन भयो मायारस लम्पट, समुझत नाहिं हटी ॥ हृदय मो० ॥४॥
तापर मूढ़ चढ़ी नाचति है, भीचत नीच नटी।
खैंचत स्वाद श्वान पातर ज्यों, चातक रटन ठटी ॥हृदय मो०॥५॥
स्वामिसुविधि सिञ्चहु करुणारस, निजजन जानि सिटी।
सुविधिनाथतुव सुमिरन विनु, या विरथा आयु कटी ॥हृदय मो०॥६॥
नाथसुनहु अरदास[2] दीन की, चरणन आय डटी।
पुरी ककन्दी जनम भयो जब, जनता[3] आय डटी ॥हृयद मो०॥७॥
नृप सुग्रीव जनम तुव स्वामी, विपदा सकल कटी।
श्यामामातु प्रमोद[4] भयो तब, चिन्ता सकल कटी ॥हृदय मो०॥८॥
गरभ विराजत माता विधि तें, धर्माचार डटी।
यहि तें सुविधी नाम दियो वर, महिमा अति प्रकटी ॥हृदय मो०॥९॥
राजत पुहुप[5] मुचुकंदकली जिसि, प्रभु तुव दन्तपटी।
याहीते वर दूसरि संज्ञा, पुष्पदन्त प्रकटी ॥हृदय मो० ॥१०॥
धनुशत एक मान शुभ देहा, आभा[6] परम सटी।
आयू लाखयुग पूरव वरनी, शुभ सित वरण छटी ॥हृदय मो०॥११॥
मकर चिन्ह है राजा रूरो[7], महिमा जग प्रकटी।
वंश इछ्वाकू आनतयाना, शोभा अतुल छटी ॥हृदय मो० ॥१२॥
च्यवन फागवदि नवमी वरन्यो, धन्य तिथी सुघटी।
मृगशिरकृष्णा पाँचम जनमे, धनि धनि धुनि प्रकटी ॥हृदय मो०॥१३॥
दीछा मिगसिर वदि छट लीन्ही, शोभा जग प्रकटी।
काती शुकला तृतीया लीन्ही, केवल ज्ञान पटी ॥हृदय मो० ॥१४॥

१—मुख। २—विनती। ३—जनसमुदाय। ४—आनन्द। ५—फूल।
६—शोभा। ७—सुन्दर।

शिखरसिमेत मोच्छ थल नीको, शोभित शुभ्र पटी।
तपसामास खमण प्रभु कीन्ही, नाशी करम पटी ॥हृदय मो० ॥१५॥
सहस साधु संख्या प्रभु तुम्हरी, सद्वृति योग सटी।
भादौं शुकला नवमी पाई, मुक्ति श्री सुघटी ॥हृदय मो० ॥१६॥
भूरां के प्रभु महिमा तुम्हरी, सकल जगत प्रकटी।
दासि जानि मोहि पार उतारो, भवघाटी विकटी[1] ॥हृदय मो०॥१७॥
कहत आरजाँ भूरां सुन्दरि, रे नर माय[2] नटी।
ताके वश जनि[3] होहु ध्यायि प्रभु, लेवहु पार तटी ॥हृदय मो०॥१८॥

श्री शीतलनाथ स्तवन

(राग गौरी)

सकल तजि स्वामि शरण तेरी आई ॥ टेक ॥

सब तजि भोग विषय अरु मन्दिर, नाम सुनत उठि धाई।
अब तो शीतलनाथ कृपा करि, लेहु दासि अपनाई ॥सकल तजि० ॥१॥
मानस[4] मूढ कह्यो नहिं मानत, वार वार समुझाई।
विषय विलास भोग हित धावत, तृष्णा अधिक बढ़ाई ॥सकल तजि० ॥२॥
जन्म जन्म के मिटे पराभव[5], नाथ सुरति तुव आई।
शीतलनाथ अनाथन बन्धू, सुनि महिमा उठि धाई ॥सकल तजि० ॥३॥
रे मन शीतलनाथ शरण गहु, मिटि है सकल बुराई।
उन सुमिरे हिय शितल होत है, नाम महिम अधिकाई ॥सकल तजि०॥४॥
भद्दिलपुरि महँ जनम लियो प्रभु, दृढ़रथ गृह महँ जाई।
माता नन्दा रानि प्रभू की, देखि जन्म मुद[6] पाई ॥सकल तजि०॥५॥
तात देह ज्वरदाह हतो रुज, परसरानि कर पाई।
शीतल देह तुरतकर परसे, जानी गर्भ बड़ाई ॥ सकल तजि० ॥६॥

१—कठिन। २—माया। ३—मत। ४—मन। ५—तिरस्कार। ६—आनन्द।

यहि प्रभाव लखि दीन्ही संज्ञा, शीतलनाथ सुहाई।
धन्य धन्य महिमा प्रभु तुम्हरी, कहँ लगि करूँ बड़ाई॥सकल तजि०॥७॥
नवति[1] धनुष तन मानरु आयू, लख पुरब अधिकाई।
कनक वरन छवि राजत नीकी, अँक श्रीवत्स सुहाई॥सकल तजि॥८॥
वंश इछाकू जनम लियो प्रभु, प्राणतयान सुहाई।
माधव[2] कृष्णाषष्ठी कीन्हों, च्यवन प्रभू वर जाई॥ सकल तजि॥९॥
माधव दीतिथि वारस जन्मे, जनता प्रीति वढ़ाई।
याही तिथि दिच्छा प्रभु लीन्ही, योग तीन वश लाई॥सकल तजि॥१०॥
पौष वदी तिथि चौदश लीन्हो, केवल ज्ञान सुहाई।
शिखरि समेत मोच्छथल नीको, महिमा परम सुहाई॥सकल तजि॥११॥
मासखमण तपचर्या कीन्ही, मुनिजन महिमा गाई।
सहस एक मुनि संख्या प्रभु की, महिमा अति अधिकाई॥सकल तजि॥१२॥
माधव वदि द्वितीया मुनि श्री, प्रभु निज अंक लगाई।
कहँ लगि महिमा कहहुँ बखानी, गिरातीत अधिकाई॥सकल तजि॥१३॥
भूराँ की प्रभु टेर सुनहु द्रुत, दीजै पार लगाई।
असित जानि महिमा प्रभु तुम्हरी, अरज करी मन भाई॥सकल तजि॥१४॥

श्री श्रेयांसनाथ स्तवन

(राग केदारा)

अबतो नाथ मोहिं उधारि॥टेक०॥
मगन हौं भव अम्बु निधि में, दयालो उपकारि॥ १ ॥
नीर अति गम्भीर माया, लोभ लहर तरंग।
लिये जात अगाध जल में, गेह ग्राह अनंग॥ २ ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटति, मोह अघ सिरभार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार॥ ३ ॥

१—नब्वे। २—वैशाख।

काम क्रोध समेत तृष्णा, पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत ममता, नामनौका ओर ॥ ४ ॥
थकी बीच विहाल विह्वल, सुनो करुणा मूल ।
नाथ भुज गहि काढ़ि लीजै, ह्वै सदा अनुकूल ॥ ५ ॥
सिंहपुरि प्रभु जन्म लीन्हों, विष्णु राजा गेह ।
विपुण रानी मोद लहि शुभ, कीन्ह अधिक सनेह ॥ ६॥
देवधिष्टित सेज सोई, मातु संशय तजी ।
नहिं विघ्नगर्भ प्रभाव कोई, विपदा सर्व भजी ॥ ७ ॥
श्रेयंस यहि ते नाम शुभ पितु, मातु गुनि के दियो ।
असी धनु परिमाण देहा, प्रभू नीको लियो ॥ ८ ॥
लक्ष चुरासी पुर्व आयू, वरन सुकनक छवी ।
चिन्ह गैंडा कोहु शोभित, शोभ अनुपम फवी ॥ ९ ॥
जन्म इक्ष्वाकू वंश लीन्हो, यान अच्युत अहै ।
शुभ जेठ वद षष्ठी च्यवन, सव शास्त्र हैं कहैं ॥१०॥
फाग कृष्णा द्वादशी तिथि, प्रभु जी जन्म लियो ।
मास ताही कृष्ण तेरस, सुदी छोत्सव कियो ॥११॥
माघकृष्णा मावसी तिथि, केवल ज्ञान भयो ।
समेत शिखरि है मोच्छ थल, तप मासखमणयो ॥१२॥
सहस संख्या साधुजन की, तपरत[1] सुशोभना ।
मोच्छ सावन कृष्ण तृतिया, लीन्ह प्रभु शोभना ॥१३॥
भूरसुन्दरि कहत टेरी, नाथ अब तारहू ।
विना तुम्हरे कोउ दीसे, नाहिं उपकारहू ॥१४॥
याहितें मैं अरज कीन्हीं, स्वविरद[2] विचारिये ।
दासि मुझ पर करि दया प्रभु, वेगि अपनाइये ॥१५॥

१—तप में तत्पर । २—महिमा ।

नाम ही श्रेयंस तुम्हरो, जो शिवद[1] है महा।
नहिं दीस दूसर आसरो, नाथ जाऊं जहाँ ॥१६॥

श्री वासुपूज्य स्तवन

(राग सोरठ)

भणो भैया रे वासु पूज्य भगवान ॥ टेक ॥

कहत सुन्दरी सुनो रे भविजन, अहनिशि लाओ ध्यान।
वासु पूज्य जिनराजहिं सुमिरो, होय सकल कल्यान ॥ भणो भैया० ॥१॥
उन सम कोऊ है नहिं मीता, जग में दूसर आन।
लेहु शरण तिन चरणन नीकी, जो चाहत कल्याण ॥भणो भैया० ॥२॥
चम्पानगरी जनम लियो प्रभु, नृपवसु पूज्य सुजान।
जयादेवि माता कुखि जनमे, भूरि[2] कियो तब दान ॥भणो भैया० ॥३॥
गर्भ विराजत प्रभुवरजी के, इंद्रदेवपति आन।
वसुवृष्टी कीन्हीं कइवारा, मात तात किय मान ॥भणो भैया० ॥४॥
वासु पूज्य यहि ते शुभ संज्ञा, दीन्ह तात मुद मान।
धन्य प्रभू तुम्हरी है महिमा, करत देवहू गान ॥ भणो भैया० ॥५॥
[3]सप्ततिधनुः प्रमाना देहा, शोभित कृपानिधान।
लाख बहत्तर पूरब आयू, रक्तवरन छवि जान ॥ भणो भैया० ॥६॥
लञ्छन महिपि शिशू[4] को नीको, सोहत वे परिमान।
सकल सृष्टि के तारक स्वामी, नहिं गुण होत बखान ॥भणो भैया० ॥७॥
वंश इक्ष्वाकू तुम दीपायो, जन्म लेइ भगवान।
ज्येष्ठ मास सुदि नवमी च्यवना, कीन्हों दयानिधान ॥भणो भैया० ॥८॥
फागुन मास वदि चौदश जनमे, घर घर बजत निशान।
ताहि मास अम्मावस दीछा, लीन्हीं हेत कल्यान[5] ॥ भणो भैया० ॥९॥

१—कल्याणदायक। २—बहुत। ३—सत्तर। ४—भैंस का बच्चा। ५—कल्याण।

मास खमण तप प्रभुवर कीन्हों, महिमा जासु अमान ।
माघ सुदी द्वितीया पुनि पायो, केवल ज्ञान महान ॥ भणो भैया० ॥१०॥
ताहि प्रताप चम्पापुरि लीन्हो, प्रभुवर शुभ निरवान ।
छः शत संख्या साधु वरन की, सरव भये मतिमान ॥ भणो भैया०॥११॥
प्राणत नाम दशम प्रभुवर को, वरनो सौम्य[1] विमान ॥
वासु पूज्य भगवन प्रभुस्वामी, सुनलो दयानिधान ॥ भणो भैया०॥१२॥
पद रज दासी जानि मोहि तुम, देवहु सुख को थान ।
अरज यही भूराँसुन्दरि की; सुनलो कृपानिधान ॥ भणो भैया० ॥१३॥

श्री विमलनाथ स्तवन

(राग देवगन्धार)

अरे नर विमलनाथ भजिलेरे ॥टेक॥
विमलनाथ भक्ती रस नीको श्रवण पत्र भरिलेरे ।
को तेरो पुत्र पिता तू काको, धरनीवर को तेरे ॥ अरे नर० ॥१॥
भाई बन्धु अरु कुटुम्ब कबीला, हैं परिवार घनेरे ।
अन्त समय कोउ काम न आवें, नहिं आवें वे नेरे[2] ॥ अरे नर० ॥२॥
महल बाग भूमी धन सारे, साथ न जैहैं तेरे ।
नहिं सँग जैहैं कुटुम कबीले, नित जो रहत सुघेरे ॥ अरे नर० ॥३॥
विमल जिनेस ध्यान शुभ एकहि, संग रहि है नर तेरे ।
प्रभुवर ध्यान सुखद है जग में, देत भव्य[3] बहुतेरे ॥ अरे नर० ॥४॥
कम्पिलपुर महँ जनम लियो प्रभु, नृप कृतवर्म गृहेरे ।
देवी श्यामा मातु प्रभू की, जेहि मुद लहे घनेरे ॥ अरे नर० ॥५॥
विमल न्याय माता ने कीन्हो, जब प्रभु गरभ हुतेरे ।
गर्भ प्रभाव विमल शुभ संज्ञा, दीन्ह मोद मन लेरे ॥ अरे नर० ॥६॥

१—सुन्दर । २—पास । ३—कल्याण ।

साठ धनुः तनुमाना प्रभु को गुण अगिनत बहुतेरे ।
साठ लाख पूरव को आयू, कनक[1] वरन छवि छेरे ॥ अरे नर० ॥७॥
शूकर चिन्ह विराजत नीको, ऐसे प्रभु मन देरे ।
सकल सौख्य पावहिगो ततछन, नहिं हुइ है कछु देरे ॥ अरे नर० ॥८॥
वंश इछ्वाकू प्रभुवर कीन्हो, सुखनिधि जनम लयेरे ।
व्योमयान[2] सहसार आठवों, वरन्यो शास्त्र सतेरे ॥ अरे नर० ॥९॥
माधव[3] शुकला बारस च्यवना, वरनत शास्त्र घनेरे ।
तीज माघ सुदि प्रभुजी जनमे, जनपद मोद लहेरे ॥ अरे नर० ॥१०॥
चौथ माघ सुदि दीक्षा लीन्हीं, शाटे करम घनेरे ।
पौष सुदी छठ केवल ज्ञाना, भयो विमल भहि मेरे ॥अरे नर० ॥११॥
मास खमण तप कीन्ह प्रभूवर, जाके गुण अधिकेरे ।
वदि सातम आषाढ़ मास शुभ, शिखरि समेत महेरे ॥अरे नर० ॥१२॥
मुक्तिश्रीलहि मोद अतुल हिय, प्रभुवर विमल वरेरे ।
छसहस संख्या साधुवरन की, प्रभुवरजी की हेरे ॥अरे नर० ॥१३॥
विमल स्वामि सुमिरत रे भविका, हृदय होत विमलेरे ।
शुभसंसकार हृदयमहँ आवत, करम होत सब छेरे[4] ॥ अरे नर० ॥१४॥
विमलनाथ सन अरज करत हूं, नाथ तुमहिं हो मेरे ।
भूराँ कहँ प्रभु पार उतारो, दोष न देखहु मेरे ॥ अरे नर० ॥१५॥
आपनि करनी देखहुँ जौ मैं, किये अपराध घनेरे ।
पतित उधारन तुम हो स्वामी, भव दुख मेटहु मेरे ॥ अरे नर० ॥१६॥

श्री अनन्तनाथ स्तवन

(भजन)

विनतुव भजन कौन सुख पायो ॥ टेक ॥
तुम्हरो नाम परस सुखदायक, सब भक्तन ने गायो ॥१॥

१—सुवर्ण २—विमान ३—वैशाख । ४—दूर ।

जिन मुनिराज मोह ममता तजि, तुम्हरो ध्यान लगायो।
अवशि देह तिन त्यागि प्रभूवर, सुरपुर जाय वसायो ॥२॥
गावत गुण तुव आगम सब ही, त्रिभुवन यश तव छायो।
अनँतनाथ जिनवर जगस्वामी, तुव सरूप मन भायो ॥३॥
दोप नाशि निज भक्त उधार्यो, आनंद सबन दिखायो।
भक्ति भाव जिन शीश नमायो, तिन कहँ तुम अपनायो ॥४॥
पुरी अयोध्या जनम लियो सिंह. सेन पिता मुद[1] पायो।
अनुपम रूप दिखाय प्रभूवर, सुयशा मोद वढ़ायो ॥५॥
अनन्त चक्र सुपने में देख्यो, भ्रमत भ्रमत नभ[2] आयो।
अनंत गांठ तागा वंधन से, जन परिताप नशायो ॥६॥
गर्भ प्रताप जानि यह दीन्हों, अनन्त नाम मनभायो।
धनुः पंचाशत[3] देह विराजै, अनुपम रूप सुहायो ॥७॥
लाख तीस अवद है आयू, कनक वरन शुभभायो।
पक्षि सिंचाण चिन्ह विराजै, सब के मनमहँ भायो ॥८॥
वंश इक्ष्वाकू गौरव पायो, प्राणत पान सुहायो।
सावन कृष्णा सातम प्रभुवर, च्यवन कीन्ह मनभायो ॥९॥
माधव[4] कृष्णा तेरस जनमें प्रभु, घर घर मोद वढ़ायो।
माधव वदि चौदशि लै दीक्षा, कर्म समूह जरायो ॥१०॥
ताही तिथि को केवल ज्ञाना, प्रभु उपज्यो मनभायो।
मास खमण तप कीन्हो प्रभु ने, जसु गौरव अधिकायो ॥११॥
शिखरि समेत मोच्छथल वरन्यो, है गिरिराज सुहायो।
मधु[5] शुकला पाँचम मुक्ति श्री अनंत प्रभूवर पायो ॥१२॥
सहस सप्त मुनि संख्या प्रभु की, जसु जग शुभ यश गायो।
धन्य प्रभू महिमा है तुम्हरी, इन्द्रहु पार न पायो ॥१३॥

१—आनन्द। २—आकाश। ३—पचास। ४—वैशाख। ५—चैत

भूराँ के प्रभु अनंतनाथ जित्त, तुम्हरो भजन बनायो।
तुम हो अनंत गुणन की खानी, हौं अल्पमती गुण गायो ॥१४॥
दासी जानि मोंहि अपनाओ, अब किमि वार[1] लगायो।
और कौनतें अरज करौं मैं, जब तुम सम प्रभु पायो ॥१५॥
जनम जनँम को रोग मिटाओ, मैं तुव पदरज ध्यायो।
दीठि दया की मो पर डारहु, यहितें सब कछु पायो ॥१६॥

श्रीधर्मनाथ स्तवन

(राग भैरवी)

इस प्राणी को धर्म भजन ही, परमानन्द दिखाता है रे।
बिना किये तिन भक्ति जगत में, मुक्ति न कोई पाता है रे ॥ १ ॥
धन दौलत अरु कुटुम कबीला, कोई काम न आता है रे।
सब अपने अपने स्वारथ के, मुख देखे का नाता है रे ॥ २ ॥
दारा पुत्र पौत्र के ऊपर, फूला नहीं समाता है रे।
माया मोह लोभ के वश हो, विरथा जन्म गँवाता है रे ॥ ३ ॥
अब भी समझ अरे अज्ञानी, कहत जिन्हें तू अपना है रे।
अन्त समय कोई काम न आवै, आप अकेला जाता है रे ॥ ४ ॥
काल आय जब शिर पर गाजत, कफ घट में घिर आता है रे।
आंख फाड़ि तब चहुँ दिशि देखत, शिर धुनिधुनि पछिताता है रे ॥५॥
जिन जिन भज राजस[2] तामस[3] तजि, जो तेरे सुखदाता है रे।
वोही सर्व जगत का स्वामी, सब दुख द्वन्द्व मिटाता है रे ॥ ६ ॥
माया मोह द्रोह ममता तजि, धर्मनाथ जो ध्याता है रे।
अन्त समय वोही नर भव में, परमधाम को पाता है रे ॥ ७ ॥
रतनपुरी जिन जनम लियो प्रभु, भानु नृपति जसु ताता है रे।
शीलवती सुव्रतादेवी पुनि, प्रभुवर की वर माता है रे ॥ ८ ॥

१—देर। २—रजो गुण के काम। ३—तमोगुण के काम।

धर्म राग थोड़ो हो पूरव, गर्भ प्रभाव अधिकाता है रे।
गर्भ प्रभाव देखि दिय नामा, धर्मनाथ मन भाता है रे॥ ६॥
धनु पैंतालिस देह मान प्रभु, आयु लाख दश भाता है रे।
कनक[1] वरन छवि शोभ अपूरव, वज्र चिह्न मनभाता है रे॥१०॥
वंश इछाकू व्योमयान[2] पुनि, दूजो शुभ विजयन्ता है रे।
माधव[3] शुक्ल सप्तमी च्यवना, आगम निगम बताता है रे॥११॥
माघ शुक्ल तृतीया को जनमा, घर घर मोद बढ़ाता है रे।
माघ मास सुदि तेरस दीक्षा, सब इतिहास बताता है रे॥१२॥
पौष पूर्णिमा केवल ज्ञाना, प्रभुवर मान बढ़ाता है रे।
मोच्छ सुथान समेत शिखरि है, गिरिवर सब को भाता है रे॥१३॥
मासखमण तप अति है मोटो, सकल कर्म नश जाता है रे।
अष्टाधिक शत[4] मुनिवर संख्या, प्रभु की शोभ बढ़ाता है रे॥१४॥
जेठ सुदी पांचम मुक्ति श्री, पायो वर मन भाता है रे।
धन्य प्रभूवर गौरव तुम्हरो, सब मन मोद बढ़ाता है रे॥१५॥
भूराँसुन्दरि कह रे भाई, प्रभु से मन जो लाता है रे।
धर्मनाथ प्रभु ताकहँ तुरतहिं, जानिभक्त अपनाता है रे॥१६॥

श्री शान्तिनाथ स्तवन

(लावनी)

मोहिं विसरत नहिं सुध शान्तिनाथ प्रभु तेरी।
तुम नाथ खबर ना लई आज तक मेरी॥
जग जाल फँसी मैं नाथ सहे दुख भारी।
अब सुनहु दया के धाम टेरि मैं हारी॥

१—सुवर्ण। २—विमान। ३—वैशाख। ४—एकसौआठ।

पापी लघु[1] कछु जग तारि वड़ाई लीनी।
कहुँ तारी थी मम तुल्य विषय रस भीनी॥
जो तारहुगे मोहिं नाथ वड़ाई तेरी॥मोहिं० ॥१॥
दिन रैन जगत के ताप[2] गुजर सब जाती।
दर्शन विन देखे नैन धड़कती छाती॥
भवसिन्धु[3] अगाध अगम्य वही मैं जाती।
तड़फत हौं दिन रैन पड़ी विलखाती॥
दुष्कर्म विपति हे नाथ मोहिं पर गेरी॥मोहिं० ॥२॥
सहती हूं नाथ सब दुःख सबर नहिं मुझको।
अब सहूं कहाँ तक नाथ सुनाऊँ तुझ को॥
अब वेगि करहु तुम नाथ दया की दृष्टी।
निज दासि जानि के करो सुधा[4] की वृष्टी॥
तुम विन लेगा कौन खबर प्रभु मेरी॥मोहिं० ॥३॥
लैविश्वसेन नृप गेह गजपुरी जनमा।
तुम अचिरा देवी मातु वढ़ाई महिमा॥
तुम गर्भ विराजत नाथ सारि रुज टार्यो।
परभाव अनूपम शान्ति नाम पितुधार्यो॥
कहि सकत कौन है नाथ महीमा तेरी॥मोहिं० ॥४॥
जिन पारावत के प्राण वचाये जाई।
तिन तुमतें है प्रभु शीघ्र शानती पाई॥
तुम नाथ कियो शुभ काज जथारथ नामा।
जिन ध्यान कियो तुव नाथ भये शुभ कामा॥
अब नाथ उवारहु मोहिं जानि निज चेरी[5]॥मोहिं० ॥५॥
धनु चालिस को तनुमान नाथ तुव सोहै।
इक लाख वरष को आयु लोकहित जो है॥

१—छोटे। २—दुःख। ३—संसार समुद्र। ४—अमृत। ५—दासी।

शुभ कञ्चन वर्ण शरीर लोक मन भाये।
मृग लञ्छन[1] सौम्य[2] विशाल[3] नाथ तुव भावे॥
समटेर सुनो अब नाथ करौ जनि[4] देरी॥मोहिं० ॥६॥
तुम जनमि इछाकूवंश बड़ाई दीनी।
सरवारथसिद्ध विमान महिम अति दीनी॥
वदि सातम भाद्र सुमास च्यवन तुम कीना।
शुभ तेरस जेठ वदीहु जनम तुम लीना॥
मनमोहन मूरति नाथ हिये मम तेरी॥मोहिं० ॥७॥
वदि जेठ चतुर्दशि नाथ दीछ[5] तुम धारी।
सब कर्म समूह निवारि दया उरधारी॥
सुदि पौष नवीं तिथि ज्ञान सु केवल पायो।
शुभ मास खमण तप धारि विमोह गमायो॥
सब गावत नाथ सुरेश[6] सुकीरति तेरो॥मोहिं० ॥८॥
वदि तेरस जेठ सुमोछ समेतहिं लीनो।
नवसौ मुनिराज सुशोभ सुगौरव कीनो॥
प्रभु नाथ सुशान्ति संसार बड़ाई तेरी।
अब नाथ सुनौ यह टेर दया करि मेरी॥
भूरिसुन्दरि नाथ सुलीन्ह शरण अब तेरी॥मोहिं० ॥९॥

श्री कुन्थुनाथस्तवन

(राग भैरौं)

कुन्थूनाथ कृपा के सागर नर तू क्यों नहिं ध्याता है रे॥
सकल लोक महँ पूज्य जिनेश्वर कस[7] तिन भक्ति न लाता है रे॥१॥

१—चिन्ह। २—सुन्दर। ३—बड़ा। ४—मत। ५—दीक्षा। ६—इन्द्र। ७—क्यों।

शुद्ध हृदय जो ध्यान लगावत, सो फिर जन्म न पाता है रे।
भक्त होय कर ध्यान लगाता अन्त मुक्ति में जाता है रे ॥२॥
प्रभु प्रसाद[1] देवन को दुर्लभ तुरतहि पाप नसाता है रे।
जन्म जन्म के पाप कटत हैं अविनाशी सुख पाता है रे ॥३॥
हथिनापुरमहँ जनम लियो प्रभु सूर नृपति वर ताता है रे।
कठीदेवि शिलधारिणि प्रभु की सत्यनिष्ठ वरमाता है रे ॥४॥
गर्भ विराजत प्रभु के धरनी दीठ रत्नथुंभ[2] माता है रे।
कुन्थु समान भयो प्रभु महिमा तुरत सकल रिपुजाता[3] है रे ॥५॥
सकल छुद्र जीवन की रच्छा देश सकल वर जाता है रे।
याही तें कुन्थू शुभ नामा दीन्ह पिता अरु माता है रे ॥६॥
पञ्चत्रिंश धनुमान शरीरा प्रभु को शोभा पाता है रे।
वर्ष पञ्चाशात सहस को आयू लोक सबन मन भाता है रे ॥७॥
कनक वरन शुभ राजत नीको छाग चिन्ह मन भाता है रे।
धन्य धन्य प्रभु गौरव तुम्हरो-लोक सकल यह गाता है रे ॥८॥
वंश इछाकू जनम विमाना सरवारथ सिध भाता है रे।
सावन वदि नौमी तुव च्यवना आगम सबहि बताता है रे ॥९॥
माधव वदि चौदस पुनि जन्मा घर घर मोद बढ़ाता है रे।
माधव वदि पाँचम पुनि दीछा उत्सव कर्म नसाता है रे ॥१०॥
चैत सुदी तृतीया प्रभु पायो केवल ज्ञान सुहाता है रे।
मास खमण तप धारि समेता शिखरि मोछ थल भाता है रे ॥११॥
माधव वदि एकम प्रभुवर ही मुक्ति श्री अपनाता है रे।
एक सहस मुनि संख्या प्रभु की जग हित जसु शुभ नाता है रे ॥१२॥
धन्य प्रभू तुम्हरी वर महिमा लोक सबहिं जिहिं गाता है रे।
तुम्हरो ध्यान कृपानिधि स्वामी बेड़ा पार लगाता है रे ॥१३॥

१—कृपा। २—रत्नस्तूप। ३—शत्रु समुदाय।

भूरांसुन्दरि दासि तुम्हारिहिं मोह जाल उरझाता है रे।
जेगहि नाथ दया अब करिके दूरि करहु दुख जाता है रे ॥१४॥
किये देर छियरा है धरकत मन महँ शोक समाता है रे।
बेड़ा पार लगावहु स्वामी नतरु धार बिच जाता है रे ॥१५॥
तुम इक नाथ जगत के स्वामी सुरनर गुण सब गाता है रे।
तुम्हरोहि ध्यान दयानिधि जग को देत सकल सुखसाता है रे ॥१६॥

श्री अरनाथ स्तवन

(राग देश सोरठ)

हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो ॥टेक॥
समदरशी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो ॥हमारे०॥१॥
इक नदिया इक नाल कहावत, मैलो नीर भरो।
जब मिलि कर वे एक वर्ण भये, सुरसरि[1] नाम परो ॥हमारे०॥२॥
इक लोहा उत्तमथल पायो इक गृह वधिक[2] परो।
पारस गुण अवगुण नहिं देखत, कंचन करत खरो ॥हमारे०॥३॥
जगमाया भ्रमजाल निवारो, आरनाथ सगरो।
अब की बेर प्रभु पार उतारो, नहिं प्रण जात टरो ॥हमारे०॥४॥
गजपुर नगरी जन्म सुदर्शन, पितु नृप राज खरो।
देवीरानी मातु प्रभु तुम्हरी, दरशन मोद भरो ॥हमारे०॥५॥
गर्भ विराजत सुपने देख्यो, जननी थूभ खरो।
गर्भ प्रभाव जानि दिय नामा, पितु अरनाथ खरो ॥हमारे०॥६॥
तीस धनुष तनुमान प्रभू तुव, दीपत शोभ भरो।
सहस चुरासी बरस प्रभूवर, आयू शोभ खरो ॥हमारे०॥७॥
कनक बरन छवि देह नँदावत,[3] लञ्छन शोभ खरो।
वंश इक्ष्वाकु जनम लियो प्रभु, वंशन मांहि वरो ॥हमारे०॥८॥

१—गंगा। २—व्याध (बहेलिया) ३—नन्द्यावर्त।

सरवारथ सिधयान प्रभू तुव, राजत शोभ खरो।
फागुन सुदि द्वितीया तुव च्यवना, वरणै शास्त्र खरो ॥हमारे०॥९॥
मार्गशीर्ष सुदि दशमी जनमा, दिय सब मोद वरो।
ताही मास सुदि ग्यारस दीक्षा, उत्सव मोद करो ॥हमारे ॥१०॥
काती सुदि बारस भयो प्रभु को, केवल ज्ञान वरो।
षष्ठोमास खमण तप सुन्दर, कर्म समूह जरो ॥हमारे०॥११॥
मिगसिर सुदि दशमी निरवाना[1], गिरि सम्मेत वरो।
सहस एक मुनि संख्या सुन्दर, गौरव जासु वरो ॥हमारे०॥१२॥
आगम सकल प्रभू यश गावत, जिहिं अरनाथ धरो।
भूरसुन्दरि अरज सुनहु प्रभु, बेड़ा पार करो ॥हमारे०॥१३॥
बहुतक जनम फिरी प्रभु जगमें, कबहुँ न काम सरो[2]।
तापित भई निरन्तर प्रभु जी, मम दुख वेगि हरो ॥हमारे०॥१४॥

श्री मल्लिनाथ स्तवन

(राग जिला)

जब सुधि आवत मल्लिनाथ तुव उठत कलेजे पीर।
अति छवि रूप नयन रतनारे, सुन्दर श्याम शरीर ॥१॥
तुव पद अम्बुज[3] ध्यावत प्रभुवर, दूर होत सब पीर।
प्रभु गुण नव शुभ्र[4] विराजत, जिमि उज्ज्वल है छीर ॥२॥
जो नर जिनवर ध्यान लगावत, तसु हिय होत सुसीर[5]।
सकल सुखन को सहजहिं पावत, नसत सर्व जग पीर ॥३॥
मिथिलापुरि महँ जनम लियो गृह, नृपवर कुम्भ सुधीर।
मातु प्रभावति देवहिं दीन्हों, मुद हरि के सब पीर ॥४॥

१—मोक्ष। २—पूरा हुआ। ३—कमल। ४—सुन्दर। ५—सुशीतल।

गर्भ विराजत मातु एक दिन, उपजो दोहद हीर[1] ।
रस[2] ऋतु सुमन[3] सेजपर सोऊं, पूर्यो सुरवर वीर ॥५॥
देखि गर्भ परभाव अनूपम, हृदय मोद अति धीर ।
मल्लिनाथ शुभ नाम दियो वर, हिये धारि शुभ धीर ॥६॥
पूरव भव के मित्रवरन षट प्रतिबोधे प्रभु धीर ।
पचपन वरस सहस है आयू, पँचविश धनुष शरीर ॥७॥
नील वरनशुभ कुम्भ को लञ्छन शोभत सौम्य शरीर ।
वंश इक्ष्वाकु जनम लियो तुम सब वंशन जो हीर[4] ॥८॥
नगीमान[5] सरवारथ सिद्धा, है तुम्हरो वरवीर ।
फागुन सुदि चौथी तिथि च्यवना कियो प्रभूवर धीर ॥९॥
मिगशिर सुदि ग्यारस लै जन्मा, मेटी सबकी पीर ।
ताही तिथि प्रभु दीक्षा लीन्हीं, मेटी कर्मन भीर ॥१०॥
ताही तिथि प्रभुवर तुम पायो, केवल ज्ञान सुहीर ।
मास खमण तप कीन्ह प्रभूवर, सर्व तपन महँ मीर[6] ॥११॥
फागुन शुकला बारस मुगती, छेदी करम जंजीर ।
मोच्छथान सम्मेत शिखरि है, सर्व गिरिनमहँ मीर ॥१२॥
पञ्चशती मुनि संख्या शोभित, है रिपुजीतन वीर ।
है तुव धन्यमली प्रभु महिमा, गावत बुधजन धीर ॥१३॥
तुव सुमिरन जगतारक स्वामी, मेटत सब जग पीर ।
दासि तुम्हारि आरजां भूरां सुन्दरि नाथ अधीर ॥१४॥
अरज करत निशि वासर स्वामी, मेटहु मम हिय पीर ।
सुनहु नाथ जनि देर लगावहु, हिय छूटत है धीर ॥१५॥
दासि जानि मोहिं पार उतारहु, जिनवर प्रभुवर धीर ।
तुमहिं छांड़ि किहिं अरज सुनाऊँ, मल्लिनाथ प्रभुधीर ॥१६॥

१—सुन्दर । २—छः । ३—फूल । ४—उत्तम । ५—विमान । ६—उत्तम ।

श्री मुनिसुव्रत स्वामी स्तवन

(राग कान्हरा)

सुमिरन कर श्रीसुव्रतनाथ दिन नीके बीते जाते हैं ॥टेर॥
तज विषय भोग सब और काम, तेरे संग न जावे एक दाम।
जो देते हैं सो पाते है ॥सुमिरन० ॥१॥

कौन तुम्हारा कुटुम्ब परिवारा, किसके हो यों कौन तुम्हारा।
किसके बल जिन नाम बिसारा, सब जीते जी के नाते हैं ॥सुमिरन० २॥
विषयों में फंसि भूल न जाओ, सुव्रतनाथ कहँ निशदिन ध्याओ।
शुभगुण तिनके सदा जु ध्याओ, इक छन में पार लगाते हैं ॥सुमिरन० ३॥
मातु पिता धन महल खजाना, नहीं एक तेरे संग जाना।
जग के मोह नहीं फँसिजाना, तहँ फँसि नर धोखा खाते हैं ॥सुमिरन० ४॥
राजगृही नगरी जो जनमें, पितु सुमित्र मुद पायो मन में।
पद्मादेवि सुखी भइ मन में पुरजन सब हर्ष मनाते हैं ॥सुमिरन० ५॥
गर्भ प्रभाव रुची पितुमाता, बारह व्रत श्रावक की जाता।
सुव्रतनाम दियो मन भाता, सब पुरजन मोद मनाते हैं ॥सुमिरन० ६॥
बीस धनुष प्रभु को तनुमाना, आयुष तीस सहस को माना।
कृष्ण वरण छवि देह बखाना, शुभ कच्छप चिन्ह बताते हैं ॥सुमिरन० ७॥
जनम प्रभू हरि वंश बखाना अपराजित है नाम विमाना।
च्यवन नभस् पूनम को माना सब भविजन मोद मनाते हैं ॥सुमिरन० ८॥
जेठ वदी आठम जनिलीन्ही, संपति फागसुदि बारस कीन्ही।
मेटी कर्म रेख प्रभुझीनी, शुभमंगल सबहिं मनाते हैं ॥सुमिरन० ९॥
फागुनवदि बारस प्रभुपायो, शिवकर केवल ज्ञान सुहायो।
मासखमण तप प्रभुवर भायो, जिहिं सकल कर्म नशि जाते हैं ॥सुमिरन०१०॥

मोक्षथान है शिखरिसमेता, सहस साधु थे दयानिकेता।
जेठ वदी नवमी है तेता, मुक्तिश्री को अपनाते हैं ।।सुमिरन० ११।।
भूरांसुन्दरि कहत पुकारी, जगत जाल में भई दुखारी।
मेटहु ताप अघनकेहारी, जगविपयतापसन तातें हैं ।।सुमिरन० १२।।
अव तो नाथ दया उरधारो, अपनि विरद की ओर निहारो।
भवनदडूवत मोहिं उवारो, वस अरज यही पहुँचाते हैं ।।सुमिरन० १३।।

श्री नमिनाथ स्तवन

(राग कल्याण)

मुरति पर वारी जाऊँ नाथ तुम्हारी ।। टेक ।।

सोवत जागत ऊठत वैठत, हियमहँ सुरति तुम्हारी।
श्री नमिनाथ कृपा के सागर, मोकहँ काहे विसारी ।।मुरति०१।।
शुभगुणधारक जग प्रतिपालक,महिमा अमित तुम्हारी
करहु दासि पर दया कि दृष्टी, जाति चरण तुव वारी ।।मुरति०२।।
भवभव के परिताप मिटावहु, नाथ दया उरधारी।
मग्न होत हौं भव उदधी महँ, सूझत आर न पारी ।।मुरति०३।।
भव तारक तुमहीं को जानी, तुमसन करत पुकारी।
अरज सुनहुगे जो नहिं स्वामी, हुइ है सकल खुआरी ।।मुरति०४।।
तारे तुम जग जीव अनेकन, अव है मेरी वारी।
करहु पार मोहूकहँ प्रभुवर, हो जग के हितकारी ।।मुरति०५।।
मिथिला नगरी जनम लियो पितु, विजय नृपति है भारी।
विप्रादेवी माता तुम्हरी, अतुलशील व्रतधारी ।।मुरति०६।।
गर्भ विराजत चढ़ि नृप आयो, सीमडि देश को भारी।
कटक जमायो चहुँ दिशि वाने, वैरी नगरी सारी ।।मुरति०७।।

दुर्ग चढ़ी रानी जब देख्यो, तीछन दृष्टी डारी।
देव तेज रिपु[1] सहि नहिं शाक्यो, शीघ्रहि नरमी धारी ।।मुरति ८।।
आइ समिप अपराध खमायो, विनती कीन्हीं भारी।
मोपै स्वामि सौम्य[2] दृग करिये, विनती यही गुजारी ।।मुरति ६।।
छमि अपराध देवि शुभ दृष्टी, रिपु पर तुरतहिं डारी।
चरनपूजि देवी के गमनो[3], निज गृह होय सुखारी ।।मुरति१०।।
गर्भ प्रभाव लख्यो पितु माता, पायो मोद अपारी।
श्री नमिनाथ नाम शुभ दीन्हो, सुनि सब भये सुखारी।।मुरति११।।
धनुः पञ्चदश तनु को माना, आयु सहसदश भारी।
कनक वरन छवि शोभत नीकी, नील कमल चिन्ह भारी।।मुरति१२।।
वंश इछाकू जनम विमाना, प्राण तजन मन हारी।
आश्विन शुकला पूनम च्यवना, महिमा अमित अपारी।।मुरति१३।।
सावन बदि आठम तिथि जनमा, लखि सब भये सुखारी।
वदि नौमी आषाढ़ को दीछा, लीन्ह विवेक विचारी ।।मुरति१४।।
मिगसिर सुदि ग्यारस भयो ज्ञाना, केवल नाम सुखारी।
मास खमण तप प्रभुवर धार्यो[4], दियो कर्म सब जारी ।।मुरति१५।।
वदि दशमी वैशाख सुहावन, गिरि सम्मेत विहारी।
प्रभुवर वर को पाय मुगतिश्री[5], सब विधि भई सुखारी ।।मुरति१६।।
सहस एक मुनि सख्या प्रभु की, सब विधि धर्म विहारी।
मुनिवर सब प्रभु तुव गुणगावत, महिमा अमित अपारी।।मुरति१७।।
भवनद पार किये तुम स्वामी, वहुतक पातकि भारी।
मेरी वारी देर लगाई, मेरी सुरति विसारी ।।मुरति१८।।
अब जनि[6] देर लगावहु स्वामी, सुनलो तुरत पुकारी।
भव दुख जाल पड़ी हूं स्वामी, लीजै मोहिं उबारी ।।मुरति१६।।

१—शत्रु। २—सुन्दर। ३—गया। ४—किया। ५—मुक्तिश्री। ६—मत

भूरसुन्दरि अरज यही है, प्रभु नमिनाथ सुखारी।
भवनद डूबत मोहिं प्रभूवर, दीजे पार उतारी ॥सुरति०२०॥

श्री नेमिनाथ स्तवन

(राग ठुमरी)

जिनवर नेमिनाथ गुण गाले मोह नींद क्यों सोता है
जो नर तारन तरन नेमि प्रभु, नहिं भजता वह रोता है ॥ १ ॥
झूठा है सब जग का नाता, नाहिं पुत्र और पोता है।
नेमिनाथ जिनवर को भजले, वृथा समय क्यों खोता है ॥ २ ॥
भजन त्यागि विषयन जो सेवत, वह नर खाता गोता है।
नेमिनाथ जिनवर को ध्याना अन्त सहायक[1] होता है ॥ ३ ॥
सौरीपुर महँ जनम लियो पितु, सिन्धुविजय सुख होता है।
शिवादेवि माता मन मन्दिर, बह्यो अनँद को सोता है ॥ ४ ॥
गर्भ विराजत प्रभुवर मातुहिं, दरश अरिष्ट को होता है।
उछलत चक्र अकाशहु दीस्यो मनमुद अंकुर बोता है ॥ ५ ॥
गर्भ प्रभाव अरिष्ट नेमि शुभ, नाम दियो कुल गोता है।
धनुदशमान शरीर लसत[2] है, आयू दश शत होता है ॥ ६ ॥
श्यामवरन शँख लञ्छन[3] मनके, भरमजाल सब खोता है।
जग हरि वंश विख्यात विराना, अपराजित हू होता है ॥ ७ ॥
काती कृष्णा बारस च्यवना, जानि मुदित मन होता है।
श्रावण सुदि पांचम भयो जन्मा, घर घर मंगल होता है ॥ ८ ॥
श्रावण सुदि षष्ठी लइ दीच्छा, उच्छव घर घर होता है।
आश्विन कृष्णा अमावस ज्ञाना, केवल प्रभुहीं होता है ॥ ९ ॥
मोच्छ सुथान गिरी गिरनारा, देखे मन मुद होता है।
मास खमण तप धार्यो[4] प्रभुवर, सकल मैल जो धोता है ॥१०॥

१—सहायता करने वाला। २—शोभा देता है। ३—चिन्ह। ४—किया।

सुदि अषाढ़ आठम निरवाणा, जानि मुदित मन होता है।
छतिस अधिक पञ्चशत साधू यूथ[1] कर्ममल धोता है ॥ ११ ॥
भूरांसुन्दरि अरज करत है, नाथ समय अब कोता[2] है।
निज चरनन को ध्यान बकसिये, सकल कर्मरज धोता है ॥१२॥

श्रीपार्श्वनाथ स्तवन

(राग खमाच तिताली)

श्रीपार्श्व प्रभुहिं भज तज काम ॥ टेक ॥
पार्श्व भजन विना जगसाहीं, किन पायो विश्राम ॥ १ ॥
सुरनर मुनि सब ही प्रभु को यश, गावत आठोयाम[3] ।
त्रिभुवन नायक[4] सुखदायक प्रभु, जनपालक घनश्याम ॥२॥
पतित उबारन भव भय टारन नाम एक सुखधाम ।
भूरां सुन्दरि नामहिं निरमल भुक्ति मुक्ति को धाम[5] ॥ ३ ॥
नगरि बनारसि जनम लियो प्रभु, अश्वसेन पितु नाम ।
वामारानी माता प्रभु की, सती शिरोमणि वाम[6] ॥ ४ ॥
गर्भ विराजत प्रभुवरजी के, मातु तमस्विनियाम ।
जात सर्प सुपने महँ देख्यो, मानस[7] भयो विताम[8] ॥ ५ ॥
ताही मग नृप करहू दीस्यो, ताहि उच्च किय वाम ।
बोल्यो जागि नृपति रानी तें, धार्यो कर किहि काम ॥ ६ ॥
बोली रानि भुजग[9] यह जावै, धार्यो कर यहि काम ।
नृपति कह्यो मिथ्या तू भाषै, यहां सरप किहि ठाम ॥ ७ ॥
दीप मंगाय देवि दिखलायो, सरप दीठ तिहि ठाम ।
कियो विचार नृपति नहिं दीस्यो, सर्प मोहिं यहि ठाम ॥ ८ ॥

१—समूह । २—थोड़ा । ३—पहर । ४—त्रिलोकी के स्वामी । ५—स्थान । ६—स्त्री । ७—मन । ८—उदास । ९—सर्प ।

देख्यो ताहि देवि ने है यह, गर्भ प्रताप ललाम[1]।
जानि यही पारस प्रभुनामा, दीन्हो सुख को धाम ॥ ९ ॥
अङ्क[2] हाथ तनु मान सुहावे, आयु वर्ष शत धाम।
नील वरन अरु भुजग अंक है, देखत पूरन काम ॥ १० ॥
वंश इक्ष्वाकू प्राणतपाना, प्रभु को शोभा धाम।
चैत्र कृष्ण चौथी भयो च्यवना, ध्यावत पूरण काम ॥ ११ ॥
पौष कृष्ण दशमी लै जनमा, पूर्यो सब को काम।
पौष कृष्ण ग्यारस लइ दीछा, मङ्गल भयो सुधाम ॥ १२ ॥
चैत वदी चौथी भयो ज्ञाना, केवल सुखद ललाम[3]।
मोच्छ सुथान समेत शिखरि है, शोभित आठौं याम ॥ १३ ॥
मास खमण तप कीन्ह प्रभूवर, पूरै जो सब काम।
श्रावण सुदि सातम मुक्तिश्री, प्रभु लहि पूरण काम ॥ १४ ॥
तेंतिस साधु सुशोभित प्रभु के, धर्म निरत वसुयाम[4]।
कौन सकत कहि तुव वर महिमा, प्रभुवर सुख के धाम ॥१५॥
जगतारन पारस प्रभु स्वामी, वेगहि करहु सकाम[5]।
नाथ दया करि मो कहँ दीजै-शिवपद सुन्दर ठाम ॥ १६ ॥
अरज यही भूराँसुन्दरि की, दीजै भक्ति ललाम ॥
जनम जनम प्रभु तव गुण गाऊं, होऊं पूरण काम ॥ १७ ॥
अगिनत जीव सुतारे स्वामी, पहुंचाये सुख धाम।
दासि जानि अब मोहिंहुं तारहु, गुण गाऊँ वसुयाम ॥ १८ ॥

श्री महावीर स्वामी—स्तवन (गजल)

दरश अपना जो स्वामी तुम, दिखा दोगे तो क्या होगा ॥ १ ॥
जो तुम भानू[6] सो कुल भानू, है मुखड़ा भानु का जैसा।
संकोचा मन कमल मेरा, खिला दोगे तो क्या होगा ॥ २ ॥
इसी संसार सागर में, मेरी नैया जो वहती है।

१—सुन्दर। २—नौ। ३—सुन्दर। ४—आठों पहर। ५—सफल कामना। ६—सूर्य।

दशम सुरलोक तें च्यवना, सुदी छठि पाढ़ तुम कीन्हो।
बढ़ायो मोद सबको अब, मुझे भी दो तो क्या होगा ॥ १५ ॥
सुदी तेरस मधूमासा[1] जनम लै दीन्ह मुद सुन्दर।
तिहीं मुदवारि मोहि पंकज[2], खिला दोगे तो क्या होगा ॥१६॥
दिछा मिगसिर वदी दशमी, लई जञ्जाल त्यागन को।
तिहीं सें जाल मेरेहू, नशा दोगे तो क्या होगा ॥ १७ ॥
दशमि वैशाख शुक्ला को, केवल ज्ञाना भयो तुमको।
तिहीं के अंश से मेरो, तिमिर नाशो तो क्या होगा ॥ १८ ॥
पुरी पावा है मुक्तीथल, सुपावन छेत्र है जग में।
तिहीं परताप मेरो हिय, करो विमला तो क्या होगा ॥ १९ ॥
करी वेला तपस्यावर, करमरज शाटि तुम स्वामी।
वही तप की विधी शकती, मुझे भी दो तो क्या होगा ॥ २० ॥
अमावस कार्तिकी धनि है वरी मुक्ती शुभा ललना[3]।
मुझे भी पास अपने तुम, बुला लोगे तो क्या होगा ॥ २१ ॥
भुराँसुन्दरि प्रभू दासी, अरज करती है निशदिन यह।
दयादृष्टी जो मोपर तुम, करो तो नाथ क्या होगा ॥ २२ ॥
पड़ी भवसिन्धु में स्वामी, विकल हो गोते खाती हूं।
मेरी नैया जो भव पारा, लगा दोगे तो क्या होगा ॥ २३ ॥
विषय अरु भोग की तृष्णा, सताती याम[4] है आठौं।
दया करि यातें पीछा जो, छुड़ा दोगे तो क्या होगा ॥ २४ ॥

१—चैत्र। २—कमल। ३—स्त्री। ४—पहर।

२—शास्त्र सिद्धान्त रत्नावली

साधु (भिक्खु) की पड़िमा वहता काया को नित्य वोसराई है, ऐसा साधु यदि किसी अकृत स्थान का सेवन करे और वह उसको आलोया[1] विना यदि काल करे तो उसे विराधक जानना चाहिये तथा यदि वह उसकी आलोचना कर के काल करे तो उसे आराधक जानना चाहिये।

अथवा–यदि किसी साधु ने अकृत स्थान का सेवन किया हो और वह साधु यह कहे कि हम अन्त समय में अर्थात् मरण समय में इसकी आलोचना करलेंगे, यदि उसका अकस्मात् काल आजावे और वह आलोचना न कर सका हो तो उसे विराधक जानना चाहिये और यदि अन्त समय में उसकी आलोचना कर के काल करे तो उसे आराधक समझना चाहिये।

श्री भगवती सूत्र के पांचवें शतक के चौथे उद्देशक में ऐसा कहा है कि—दो देवता महाशुक्र देवलोक से आये और उन्होंने भगवन्तों को मनोयोग से वन्दन किया, मनोयोग से ही पर्युपासना सेवा की तथा मनोयोग से ही प्रश्न किया कि हे भगवन्! आपके कितने शिष्य मुक्ति में जावेंगे, तव भगवान् ने मनोयोग से उत्तर दिया कि मेरे सात सौ शिष्य मुक्ति में जावेंगे, इस बात को सुनकर देवताओं ने कहा कि तथ्य[2] वचन है, इस वात को देखकर गौतम स्वामी ने विचारकिया कि ये कौन हैं और कहां के देवता हैं, तब वे भगवान् के पास आये, भगवान् ने कहा कि हे गौतम! तुम्हारे मन में यह संशय उत्पन्न हुआ है, तब गौतमजी ने कहा कि हां महाराज, फिर गौतम स्वामी उन देवों के पास आये, देवों ने उनको वन्दन किया, और यह कहा कि महाशुक्र देवलोक के देव हैं, हमने मन से भगवान् को वन्दन किया था तथा मन से ही

१—आलोचना। २—सत्य।

पृच्छा की थी, तथा भगवान् ने भी हमें मनोयोग से ही उत्तर दिया था, इसके पश्चात् वे देव जिस दिशा से आये थे उसी दिशा से चले गये।

श्री भगवती सूत्र के तीसरे शतक के पहले उद्देशक में यह अधिकार है कि जब शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र महाराज में परस्पर में विवाद होता है तब तीसरा देवलोक का इन्द्र सनत्कुमार महाराज का ध्यान करते हैं, तब वे शीघ्र ही आते हैं तथा दोनों इन्द्रों के विवाद को दूर करते हैं, इस विषय में गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् सनत्कुमार भव सिद्ध है अथवा अभव सिद्ध है, सम्यग् दृष्टि है अथवा मिथ्यात्वी है, परीत संसारी है, अथवा अपरीत संसारी है, सुलभ बोधि है अथवा दुर्लभ बोधि है, आराधक है अथवा विराधक है तथा चरम है अथवा अचरम है, तब भगवान् ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! सनत्कुमार इन्द्र भव सिद्धि अभव सिद्धि नहीं है, तथा सम्यग् दृष्टि, परीत संसारी, सुलभ बोधि आराधक और चरम है किन्तु मिथ्यात्वी, अपरीत संसारी, दुर्लभ बोधि, विराधक और अचरम नहीं है, तब गौतम जी ने पूछा कि हे भगवन् ! उक्त बात किस न्याय से है भगवान् ने कहा कि हे गौतम ! बहुत से साधु, बहुत सी आर्या, बहुत से श्रावक और बहुत सी श्रावकाओं के वे हितकारी, सुखकारी, प्रशस्तकामी[1] अनुकम्पाकारी[2] तथा मोक्ष के वाञ्छक हैं इसलिये वे सम्यग् दृष्टि, परीत संसारी, सुलभ बोधि, आराधक और चरम शरीरी हैं, सनत्कुमार इन्द्र की सात सागर की स्थिति है तथा वे महाविदेह में मुक्ति को जावेंगे, यह सुनकर गौतम स्वामी ने कहा कि हे भगवन् ! सत्य है, सत्य है।

१—कल्याण के अभिलाषी। २—दयाकारी। ३—अभिलाषी।

असुर कुमार देवता की नीचे सातवीं नारकी तक जाने की शक्ति है, परन्तु या तो पूर्व के वैरी को दुःख देने के लिये अथवा मित्र को सुख उत्पन्न करने के लिये तीसरी नारकी तक गमन होता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं कि असुर कुमार देवता तिर्यक् (तिरछे) लोक में कहाँ तक जा सकते हैं? तब भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! उनकी यद्यपि असंख्यात द्वीप समुद्र तक जाने की शक्ति है परन्तु वे नन्दीश्वर द्वीप तक गये हैं, जाते हैं और जावेंगे।

हे भगवन्! तीर्थङ्करों के पञ्च कल्याणक का उत्सव करने के लिये जो देव जाते हैं उनकी उर्ध्वलोक में कहाँ तक जाने की शक्ति है? हे गौतम! उनकी बारहवें देव लोक तक जाने की शक्ति है परन्तु वे पहिले सुधर्म लोक तक गये हैं, जाते हैं और जावेंगे, हे भगवन्! इसका क्या कारण है? हे गौतम! कोई देवता वैर से जाता है अथवा देवी का साथ प्रचारणा करने की इच्छा कर के जाता है, अथवा आत्म-रक्षक देव को त्रास देने को जाता है, तात्पर्य यह है कि उक्त कारणों से गमन करते हैं, अनन्त उत्सर्पिणियों तथा अवसर्पिणियों में कुण्डा सर्पिणी आती है, तब यह काम होता है तथा लोक में अच्छेरा भूत[1] वार्ता हो जाती है।

श्रीभगवती सूत्र के तीसरे उद्देशक में कहा है कि—मण्डीपुत्र नामक अनगार[2] भगवान् के समीप आये तथा हाथ जोड़, मान मोड़ और शीस नमाकर भगवान् को वन्दना कर पूछने लगे कि हे स्वामिन्, नाथ! क्रिया कितने प्रकार की है? तब भगवान् बोले कि हे मण्डीपुत्र! क्रिया पाँच प्रकार की है—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापतिकी और प्राणातिपातिकी, इनमें से जो क्रिया शरीर से होती है

१—आश्चर्यरूप। २—साधुता।

उसे कायिकी कहते हैं जो क्रिया खड्ग आदि से होती है उसे आधिकरणिकी कहते हैं, जो क्रिया मत्सर[1] भाव से होती है उसको प्राद्वेषिकी कहते हैं। जिस क्रिया के द्वारा दूसरे को परितापता दी जाती है उसको परितापतिकी कहते हैं तथा जिस क्रिया के द्वारा प्राणों का अतिपात (घात) किया जाता है उसको प्राणातिपातिकी कहते हैं।

यह सुनकर मण्डीपुत्र ने पूछा कि कायिकी क्रिया के कितने भेद हैं ? तब भगवान् ने कहा कि हे मण्डीपुत्र ! कायिकी क्रिया के दो भेद हैं। अनुपरत कायिकी क्रिया तथा दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया, इनमें से प्रत्याख्यान न करके पाप से जो निवृत्ति नहीं होती है उसे अनुपरत कायिकी क्रिया कहते हैं तथा दुष्प्रयुक्ता कायिकी क्रिया उसको कहते हैं कि जो क्रिया दुष्ट प्रयोग के भाव से की जाती है, आधिकरणिकी क्रिया के भी दो भेद हैं—संयोजन क्रिया और निर्वर्तनाधिकरण क्रिया, इनमें से हल, वर और यन्त्र आदि का जो संयोग करना है उसे संयोजन क्रिया कहते हैं तथा खड्ग आदि शस्त्रों का जो नवीन[2] निर्माण[3] करता है उसे निर्वर्त्तनाधिकरण क्रिया कहते हैं, प्राद्वेपिकी क्रिया के भी दो भेद हैं—जीवप्राद्वेषिकी तथा अजीव प्राद्वेपिकी, जीव के ऊपर द्वेप करने को जीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहते हैं तथा अजीव पर द्वेप करने को अजीव प्राद्वेषिकी क्रिया कहते हैं, पारितापतिकी क्रिया के भी दो भेद हैं—

कृतपारितापतिकी तथा कारितपारितापतिकी। इनमें से—अपने हाथ से जो दूसरे को परितापता देता है उसे कृतपरितापतिकी क्रिया कहते हैं तथा दूसरे के द्वारा जो परितापता दिलाता है उसको कारितपारितापतिकी क्रिया कहते हैं, प्राणातिपातिकी क्रिया के भी दो भेद हैं—कृत प्राणातिपातिकी तथा कारितप्राणातिपातिकी, इनमें से जो अपने

१—मात्सर्य। २—नया। ३—रचना।

हाथ से जीव का घात करना है उसे कृतप्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं तथा दूसरे के द्वारा जो प्राणी का घात कराना है उसे कारितप्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं। मण्डीपुत्र ने पूछा कि हे भगवन्! क्रिया से वेदना होती है—तो पहिले क्रिया पीछे वेदना होती है अथवा पहिले वेदना और पीछे क्रिया होती है? भगवान् ने कहा कि हे मण्डी पुत्र! प्रथम कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया होती है पश्चात् उसका उदय होने से वेदना होती है। हे भगवन्! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी क्रिया करते हैं? हाँ मण्डीपुत्र! प्रमाद के द्वारा अथवा अशुभयोग के द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थ को भी क्रिया का संयोग होता है। हे भगवन्! सयोगी जीव क्या सदा प्रमाण युक्त चलता है, यद्वा[1] विशेषतया चलता है। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, स्पर्श करता है, क्षुब्ध होता है, उदीरणा करता है; तथा पूर्वभाव का परिणमन करता है? हाँ मण्डीपुत्र! ऐसा ही होता है। हे भगवन्! उन जीवों की अन्त क्रिया होती है? हे मण्डीपुत्र? उनकी अन्त क्रिया नहीं होती है। क्योंकि वे जीव आरम्भ, सारम्भ में प्रवृत्ति करते हुए बहुत से प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों को दुःख देते हैं, शोक उत्पन्न करते हैं, झूरणातिपण करते हैं तथा पिट्टन परितापना करते हैं-अतएव वे अन्त क्रिया को नहीं करते हैं, किन्तु अयोगी जीव सदा नहीं चलते हैं, विशेषतया नहीं चलते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं चलते हैं, स्पर्श नहीं करते हैं, क्षुब्ध नहीं होते हैं, उदीरण नहीं करते हैं तथा पूर्वभाव का परिणमन भी नहीं करते हैं, आरम्भ, सारम्भ और समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होते हैं, किसी जीव को दुःख और शोक उत्पन्न नहीं करते हैं, अतः[2] वे जीव अन्त क्रिया को प्राप्त होते हैं, तात्पर्य यह है कि जैसे सूखा तिनका अग्नि में डालते ही भस्म होजाता है और जैसे गर्म लोहे के तवे पर जल की बूँद डालते ही भस्म हो जाती है, इसी प्रकार कर्मों

१ अथवा। २ इसलिए।

को दग्ध करने वाला जीव मुक्ति में जाता है, मण्डीपुत्र ने कहा कि हे भगवन्! सत्य, है सत्य है।

श्री भगवती सूत्र के पहिले शतक के सातवें उद्देशक में गर्भ का वर्णन है-इस विषय में गौतम स्वामी ने हाथ जोड़ मान मोड़ तथा शीश नमाकर पूछा कि हे भगवन्! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ प्राणी इन्द्रिय सहित उत्पन्न होता है अथवा इन्द्रिय रहित उत्पन्न होता है? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ प्राणी इन्द्रिय सहित भी उत्पन्न होता है तथा इन्द्रिय रहित भी उत्पन्न होता है, तब गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! ये दोनों बातें कैसे होती हैं? भगवान् बोले कि हे गौतम! वह प्राणी द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा तो इन्द्रिय-रहित उत्पन्न होता है तथा भावइन्द्रिय की अपेक्षा इन्द्रिय सहित उत्पन्न होता है, इसलिये उक्त दोनों बातें मानी गई हैं। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! जीव शरीर सहित उत्पन्न होता है अथवा शरीर रहित उत्पन्न होता है? भगवान् बोले कि हे गौतम! जीव शरीर सहित भी उत्पन्न होता है तथा शरीर रहित भी उत्पन्न होता है, इस बात को सुन कर गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! ये दोनों बातें क्यों होती हैं? तब भगवान् बोले कि हे गौतम! औदारिक, वैक्रिय, और आहारक शरीर की अपेक्षा से जीव शरीर रहित उत्पन्न होता है क्योंकि उक्त शरीर परभव से संग नहीं आते हैं तथा तैजस और कार्मण शरीर की अपेक्षा से जीव संसार में शरीर सहित उत्पन्न होता है, क्योंकि इन दोनों शरीरों के साथ जीव का वियोग नहीं होता है।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! जीव प्रथम समय में गर्भ में जाकर क्या आहार करता है? भगवान् बोले कि हे गौतम! माता के ऋतु काल के रुधिर और पिता के वीर्य के परस्पर में मिलने से

किल्विष रूप बने हुए पुद्गलों का वह प्रथम समय में आहार करता है।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! गर्भ में स्थित जीव किसका आहार करता है ? भगवान् बोले कि हे गौतम ! गर्भवती स्त्री जो दूध और घृत आदि का आहार करती है उस आहार का जो रस बनता है उस रस में से एक देश अर्थात् थोड़ा सा भाग ओज रूप बनता है उसी ओज का गर्भस्थ[1] जीव आहार करता है।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! जिसके आहार होता है उसके नीहार भी होता है, इस नियम से आहारकर्त्ता गर्भस्थ जीव के नीहार क्यों नहीं होता ? भगवान् ने कहा कि हे गौतम ! गर्भस्थ जीव के लघु नीती, बड़ी नीती खखार और पित्त आदि नहीं होते हैं, फिर गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! गर्भस्थ जीव के लघु नीती आदि क्यों नहीं होते हैं ? भगवान् ने कहा कि हे गौतम ! जीव जो आहार करता है वह उसका आहार इन्द्रिय, अस्थि, मज्जा, केश, रोम और नख रूप में परिणत हो जाता है, इसी कारण से गर्भस्थ जीव के लघु नीती आदि नहीं होती हैं।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! गर्भ में स्थित जीव क्या कवल का आहार करता है ? भगवान् बोले कि हे गौतम ! गर्भस्थ जीव कवल का आहार नहीं करता है किन्तु सर्वात्मा[2] से आहार करता है उसे वह बारम्बार परिणमित करता है; बार बार उच्छ्वास और निःश्वास लेता है, गर्भवती स्त्री के नाभिस्थान में एक रसहरणी नाड़ी नाली रूप में रहती है वह नाड़ी गर्भस्थ जीव का स्पर्श करती रहती है, उसी से वह गर्भस्थ जीव आहार करता है, एक और भी नाड़ी होती है जिसे पुत्र-जीव रस हरणी कहते हैं यह नाड़ी पुत्र के जीव के साथ बँधी

१—गर्भ में स्थित। २—सर्वरूप।

रहती है तथा माता के साथ भी स्पृष्ट[१] रहती है, इसी के द्वारा गर्भस्थ जीव के शरीर की वृद्धि होती है, इसीलिये गर्भस्थ जीव कवल का आहार नहीं करता है।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! माता के तथा पिता के कितने अङ्ग हैं? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! माता के तीन अङ्ग हैं—मांस, रुधिर और मस्तक की मज्जा, तथा पिता के भी तीन अंग हैं—अस्थि, मज्जा तथा केशादि (केश, रोम और नख)।

गौतम स्वामी, ने पूछा कि हे भगवन्! माता पिता के अंग कितने समय तक जीव के साथ सम्बन्ध रखते हैं? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! जब तक मनुष्यादि का भवधारण सम्बन्ध रहता है—तब तक माता पिता के अंगों का विनाश नहीं होता है अर्थात् तब तक माता पिता के अंगों का सम्बन्ध बना ही रहता है, तात्पर्य यह है कि जिस समय माता पिता के अंगों से सम्बन्ध कर आहार का ग्रहण किया था उस समय से लेकर प्रति समय वे क्षीण होने लगते हैं तथा क्षीण होते होते अन्त समय में वे नष्ट हो जाते हैं।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! यदि गर्भस्थ प्राणी गर्भ में ही काल कर जाता है तो वह कहाँ उत्पन्न होता है? क्या वह नरक में भी उत्पन्न होता है? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! हाँ कोई जीव गर्भ में ही काल करने पर नरक में भी उत्पन्न होता है तथा कोई जीव नरक में उत्पन्न नहीं होता है, फिर गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! गर्भस्थ जीव काल करके किस कारण से नरक में जाता है? भगवान् बोले कि हे गौतम! देखो! कोई जीव रानी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ है वह पूर्णतया पर्याप्त[२] है, पूर्व करणी के प्रभाव से उसको वीर्य लब्धि या वैक्रिय लब्धि उत्पन्न हुई है, वह गर्भस्थ जीव यदि इस बात को

१—स्पर्शयुक्त। २—पर्याप्तियों से युक्त।

सुने कि परचक्र की सेना आगई है, वह अपने को दुःखी करेगी, उक्त बात को सुनकर वह गर्भस्थ जीव आत्म प्रदेशों को गर्भ के बाहर निकाले, वैक्रिय समुद्घात से तथाविध[1] पुद्गलों का ग्रहण कर-हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति[2] आदि सेना की विकुर्वणा करे, विकुर्वणा करके पर चक्र की सेना के साथ संग्राम करे, ऐसा जीव धन का कामी, राज्य का कामी, भोगों का कामी, काम का कामी, धन का वाञ्छक[3] भोगों का वाञ्छक, काम का वाञ्छक, तीन अशुद्ध लेश्याओं के ध्यान से युक्त, काम और भोगों की भावना करने वाला तथा करण, कारण और अनुमोदन रूप अध्यवसाय को प्रबल करने वाला होता है, यदि वह जीव उसी समय काल कर जावे तो नरक गति में जाता है। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! गर्भस्थ जीव आयु को पूर्ण करके क्या देवलोक में भी जा सकता है ? भगवान् बोले कि हे गौतम ! गर्भस्थ जीव आयु को पूर्ण करके देवलोक में भी जा सकता है, कितने ही जीव देवलोक में जाते हैं कितने ही नहीं जाते हैं, देखो ! कोई धर्मिष्ठ[4] जीव स्त्री की कुक्षि में आया, संक्षिप्तेन्द्रिय रूप तथा पूर्ण पर्याप्तियों को बाँधा, जो गतभव[5] में तथा रूप श्रमण महाराज से अद्वितीय[6] आर्य धर्म को सुनकर संवेग में श्रद्धा युक्त हुआ था-तथा विधपरिणामों से धर्म में अनुरक्त[7] हुआ था, तीन लेश्याओं का स्वामी हुआ शुभ परिणाम समय में आयु को बाँधा, यदि वह उसी समय काल कर जावे तो देव गति में जाता है।

गर्भस्थ जीव माता के सोने पर सोता है, माता के जागने पर जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है, माता के दुःखी होने से दुःखी होता है, जन्म के समय में कितने ही जीवों का मस्तक से

१—उस प्रकार के। २—पैदल। ३—चाहने वाला। ४—धर्मात्मा। ५—व्यतीत। ६—अपूर्व। ७—अनुरागी।

जन्म होता है, कितने ही जीवों का पैरों से जन्म होता है, कितने ही जीव अशुभ कर्म का उदय होने से तिरछे (आड़े जन्मते हैं, ऐसी दशा में जन्म के अभाव से मृत्यु हो जाती है।

जन्म के पश्चात् अशुभ कर्म के उदय से जो पाप सञ्चित होता है वही उदय में आता है, वह उसका भोग दुःख के साथ करता है तथा जो जीव पूर्व भव में पुण्य करके आता है तो उसके पुण्य का उदय होता है और वह उसका सुख के साथ भोग करता है, इसी प्रकार आगे के लिए भी यदि पुण्य करेगा तो उसका भोग सुख रूप में करेगा।

श्री भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के छठे उद्देशक में आयु के विषय में वर्णन है, इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि हे भगवन्! जीव किस कारण से अल्प[1] आयु को बाँधता है? भगवान् बोले कि हे गौतम! जो जीव जीव की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है, परिग्रह की तीव्र[2] ममता करता है; संवृतात्मा[3] साधु को अशुद्ध आहार पानी वहराता है तथा चौदह प्रकार के अनेषणीय दान को देता है वह अल्प अर्थात् थोड़ी आयु को बाँधता है। हे भगवन्! जीव बड़ी आयु को कैसे बाँधता है? हे गौतम! जो जीव जीव की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तृष्णा का त्याग करता है, संवृतात्मा साधु को प्राशुक आहार पानी देता है तो वह जीव दीर्घ आयु को बाँधता है। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! जीव अशुभ दीर्घ आयु को कैसे बाँधता है? भगवान् बोले कि हे गौतम। जो जीव जीव की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है, परिग्रह में रत[4] रहता है

१—थोड़ी। २ तेज। ३— गुप्तात्मा। ४—तत्पर।

संवृतात्मा साधु की हेलना[1], निन्दा घृणा और अपमान करता है उसको अप्रीतिकारी अशनपान खादिम स्वादिम प्रतिलाभता है, तो ऐसा करने से वह अशुभ दीर्घ आयु को बाँधता है। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! जीव शुभदीर्घ आयु कोकैसे बाँधता है? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! जो जीव जीव की घात नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, मैथुन का सेवन नहीं करता, परिग्रह का त्याग करता है, संवृतात्मा साधु को वन्दना करता है, उसका सत्कार करता है सम्मान करता है, उसे प्रीतिकारी तथा रुचि के अनुकूल अशन पान खादिम स्वादिम प्रति लाभता है तो वह जीव शुभ दीर्घ आयु को बाँधता है।

श्री भगवती सूत्र के पांचवें शतक के सातवें उद्देशक में यह वर्णन है। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन्! क्या परमाणु पुद्गल चलते हैं, विशेपतया[2] चलते हैं तथा उस उस भाव को परिणमित होते हैं? भगवान् ने कहा कि हे गौतम! कोई तो परमाणु पुद्गल चलते हैं तथा कोई नहीं चलते हैं। हे भगवन्! यह बात क्यों होती है? हे गौतम! दो प्रदेशी जो स्कन्ध हैं उनमें से कोई तो चलते हैं तथा कोई नहीं चलते हैं तथा कोई उन उन भावों को परिणमित होते हैं तथा कोई नहीं होते हैं, तीन प्रदेशी स्कन्ध किञ्चित् एक देशतया[3] चलते हैं तथा एक देशतया नहीं चलते हैं। हे भगवन्! तीन प्रदेशी स्कन्ध चलते हैं या नहीं चलते हैं? हे गौतम! तीन प्रदेशी स्कन्धों के पाँच विकल्प होते हैं--देखो कोई चलते हैं, कोई नहीं चलते हैं, कोई एक प्रदेश से चलते हैं तथा दो प्रदेशों से नहीं चलते हैं, तथा कोई दो प्रदेशों से चलते हैं और एक प्रदेश से नहीं चलते हैं। हे भगवन्! चार प्रदेशी स्कन्ध क्या चलते हैं? हे गौतम! चार प्रदेशी स्कन्धों में छः विकल्प

१—तिरस्कार। २—विशेपता के द्वारा। ३—एक भाग से।

होते हैं। देखो! कोई कम्पते हैं, कोई नहीं कम्पते हैं, कोई एक देश से चलते हैं या एक देश से नहीं चलते हैं कोई एक देश से चलते हैं, तथा बहुत देशों से नहीं चलते हैं। कोई बहुत से देशों से चलते हैं तथा एक देश से नहीं चलते हैं तथा कोई बहुत देशों से चलते हैं तथा बहुत देशों से नहीं चलते हैं। जिस प्रकार चार प्रदेशियों के विषय में कहा गया है वैसे ही पाँच प्रदेशियों से लेकर अनन्त प्रदेशी[1] स्कन्धों तक के विषय में जान लेना चाहिए। हे भगवन्! परमाणुपुद्गल असिधारा अर्थात् तलवार की धार के समान धार से क्या छेदा जाता है? हे गौतम! यह अर्थ[2] समर्थ[3] नहीं है, क्योंकि उसके शस्त्र नहीं लग सकता है। इसी प्रकार से असंख्यात प्रदेशियों तक जानना चाहिए, क्योंकि ये भी शस्त्र से छिन्न भिन्न नहीं होते हैं—किन्तु अनन्त प्रदेशियों में से किसी को शस्त्र लगता है तथा किसी को शस्त्र नहीं लगता है—इस प्रकार से यह भी जान लेना चाहिए कि परमाणुपुद्गल अग्नि में नहीं जलता है, इसी प्रकार से पुष्करावर्त्त मेघ में किसी एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्त प्रदेशी परमाणुओं तक के विषय में जान लेना चाहिए अर्थात् उनमें से कोई तो भीगता है, कोई नहीं भीगता है। हे भगवन्! परमाणु पुद्गल अर्ध, मध्य वा प्रदेश के सहित है अथवा अर्ध, मध्य और प्रदेश से रहित है। हे गौतम! एक परमाणु का अर्ध भाग नहीं होता है, मध्य भाग नहीं होता है अर्थात् परमाणु का विभाग नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। हे भगवन्! दो प्रदेशी स्कन्ध अर्ध, मध्य और प्रदेश के सहित होते हैं अथवा उनसे रहित होते हैं? हे गौतम! दो प्रदेशी स्कन्ध दो परमाणुओं के मिलने से बनते हैं इसलिए वे अर्ध सहित हैं, मध्य रहित हैं तथा प्रदेश-सहित[4] हैं। हे भगवन्! तीन प्रदेशी स्कन्ध अर्ध, मध्य और

१—अनन्त प्रदेश वाले। २—विषय। ३—योग्य। ४—प्रदेशों के सहित।

प्रदेश के सहित होते हैं या उनसे रहित होते हैं? हे गौतम! तीन प्रदेशी स्कन्धों में तीन प्रदेश होने के कारण अर्ध नहीं होता है परन्तु मध्य और प्रदेश होता है, इसी प्रकार से दो, चार, छः और आठ आदि संख्या से युक्त जो समराशि वाले स्कन्ध हैं, उनको द्वि प्रदेशी स्कन्धों के समान जान लेना चाहिए तथा तीन, पाँच, सात और नौ आदि संख्या से युक्त जो विषम राशि वाले स्कन्ध हैं उनको भी प्रदेशी स्कन्धों के समान जान लेना चाहिए।

गौतम स्वामी बोले कि हे भगवन्! संख्यात प्रदेशी स्कन्धों के विषय में पृच्छा है, भगवान् बोले कि हे गौतम! संख्यात प्रदेशी स्कन्धों में से कोई तो मध्य सहित और प्रदेश सहित हैं तथा कोई अर्ध सहित और प्रदेश सहित है, क्योंकि कोई तो सम है तथा कोई विषम हैं, इसी प्रकार से अनन्त प्रदेशियों को भी जान लेना चाहिए। हे भगवन्! परमाणुपुद्गल परमाणुपुद्गल का स्पर्श करते हुए अपने एक देश से दूसरे के एक देश का स्पर्श करते हैं अथवा अपने एक देश से दूसरे के अनेक देशों का स्पर्श करते हैं, अथवा अपने एक देश से दूसरे के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं, अथवा अपने अनेक देशों से दूसरे के एक देश का स्पर्श करते हैं, अथवा अपने अनेक देशों से दूसरे के अनेक देशों का स्पर्श करते हैं, अथवा अपने अनेक देशों से दूसरे के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं अथवा अपने सर्वाङ्ग से दूसरे के एक देश का स्पर्श करते हैं अथवा अपने सर्वाङ्ग से दूसरे के अनेक देशों का स्पर्श करते हैं अथवा अपने सर्वाङ्ग से दूसरे के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं? हे गौतम! उक्त नौ भागों में से नवाँ भागा परमाणुपुद्गल में मिलता है अर्थात् परमाणुपद्गल अपने सर्वाङ्ग से परमाणुपुद्गल के सर्वाङ्ग का स्पर्श करता है तात्पर्य यह है कि एक परमाणुपुद्गल अपने सर्वाङ्ग से दूसरे परमाणुपुद्गल के सर्वाङ्ग में मिलता है, शेष[1] आठ भागे परमाणु

१—बाकी।

पुद्गल में नहीं मिलते हैं क्योंकि वह भी एक परमाणुपुद्गल है तथा दूसरा भी एक परमाणु है।

हे भगवन्! परमाणुपुद्गल जब द्विप्रदेशी[1] स्कन्ध में मिलता है तब कितने भाँगों को प्राप्त होता है? हे गौतम! वह दो भाँगों को प्राप्त होता है अर्थात् अपने सर्वाङ्ग से ही प्रदेशी स्कन्ध के एक देश का स्पर्श करता है तथा अपने सर्वाङ्ग से ही प्रदेशी स्कन्ध के सर्वाङ्ग का स्पर्श करता है, इस प्रकार पूर्वोक्त[2] नौ भाँगों में से सातवाँ और नवाँ, ये दो भाँगे मिलते हैं। हे भगवन्! परमाणुपुद्गल त्रिप्रदेशी स्कन्ध में मिल कर कितने भाँगों को प्राप्त होता है? हे गौतम! परमाणुपुद्गल त्रिप्रदेशी स्कन्ध में मिल कर पिछले तीन भाँगों को प्राप्त होता है—अर्थात् वह परमाणुपुद्गल अपने सर्वाङ्ग से तीन प्रदेशों में रहने वाले त्रिप्रदेशी स्कन्ध के एक प्रदेश का स्पर्श करता है, यदि त्रिप्रदेशी स्कन्ध के दो परमाणु एक प्रदेश में रहते हैं तो वह परमाणु पुद्गल अपने सर्वाङ्ग से उस स्कन्ध के अनेक देशों का स्पर्श करता है तथा जब त्रिप्रदेशी स्कन्ध परमाणु की सूक्ष्मता[3] के कारण एक ही परमाणु पर रहता है तब वह परमाणु पुद्गल अपने सर्वांग से उसके सर्वाङ्ग का स्पर्श करता है, इस प्रकार से पिछले तीन भाँगे मिलते हैं, परमाणुपुद्गल के त्रिप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श में जिस प्रकार कथन किया गया है उसी प्रकार चतुःप्रदेशी तथा पञ्चप्रदेशी आदि स्कन्धों से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक के विषय में भी जान लेना चाहिये। हे भगवन्! परमाणुपुद्गल का स्पर्श करने वाले द्विप्रदेशी स्कन्ध में कितने भाँगे पाये जाते हैं? हे गौतम! परमाणुपुद्गल का स्पर्श करने वाले द्विप्रदेशी स्कन्ध में तीसरा तथा नवाँ, ये दो भाँगे पाये जाते हैं—देखो! द्विप्रदेशी स्कन्ध अपने एक देश से

१—दो प्रदेश वाले। २—पहिले कहे हुए। ३—सूक्ष्म होने।

परमाणुपुद्गल के सर्वाङ्ग का स्पर्श करता है-यथा अपने सर्वाङ्ग से परमाणुपुद्गल के सर्वाङ्ग का स्पर्श करता है। हे भगवन्! द्विप्रदेशी स्कन्ध द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ कितने भाँगों को प्राप्त होता है। हे गौतम! द्विप्रदेशी स्कन्ध द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ पहिले, तीसरे, सातवें और नवें इन चार भाँगों को प्राप्त होता है, किञ्च-द्विप्रदेशी स्कन्ध त्रिप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ या तो पहिले तीन भाँगों को प्राप्त होता है, अथवा पिछले तीन भाँगों को प्राप्त होता है इसी प्रकार से चतुःप्रदेशी और पञ्चप्रदेशी स्कन्ध से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक के विषय में जान लेना चाहिये।

हे भगवन्! त्रिप्रदेशी स्कन्ध परमाणुपुद्गल का स्पर्श करता हुआ कितने भाँगों को प्राप्त होता है? हे गौतम! त्रिप्रदेशी स्कन्ध परमाणुपुद्गल का स्पर्श करता हुआ तीसरे, छठे और नवें इन तीन भाँगों को प्राप्त होता है। किञ्च-त्रिप्रदेशी स्कन्ध द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ पहिले, तीसरे, चौथे, छठे, सातवें और नवें, इन छः भाँगों को प्राप्त होता है, किञ्च-त्रिप्रदेशी स्कन्ध त्रिप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ सब भाँगों को प्राप्त होता है, इसी प्रकार से चतुःप्रदेशी और पञ्चप्रदेशी से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक के विषय में जान लेना चाहिये।

हे भगवन्! परमाणु जब परमाणुपन में रहता है तो कितने समय तक रहता है? हे गौतम! परमाणु परमाणुपन में जघन्यतया[1] एक समय तक रहता है तथा उत्कृष्टतया[2] असंख्यात समय तक रहता है तत्पश्चात् एक रूप में नहीं रह सकता है, इसी प्रकार से द्विप्रदेशी से लेकर असंख्यात और अनन्त प्रदेशी तक के विषय में जान लेना चाहिए।

१—कम से कम। २—अधिक से अधिक।

श्री भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के आठवें उद्देशक में जो वर्णन है उसका कुछ वर्णन किया जाता है। गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! समुच्चयतया जीव में कितने भंग पाए जाते हैं ? भगवान् बोले कि हे गौतम ! समुच्चयतया जीव में चार भाँगे पाए जाते हैं— सोपचय, सापचय, सोपचय, सापचय तथा निरुपचय निरपचय, इनमें से सोपचय जीव वे कहलाते हैं जो जिस योनि में जाते हैं उसमें बढ़ते ही बढ़ते हैं अर्थात् घटते नहीं हैं, सापचय जीव वे कहलाते हैं कि जो जीव जिस गति में से काल कर जावें वहाँ वे घटते ही घटते हैं अर्थात् बढ़ते नहीं हैं, जो जीव बढ़ते और घटते हैं उनको सोपचय सापचय कहते हैं तथा जो जीव न बढ़ते हैं और न घटते हैं उनको निरुपचय निरपचय कहते हैं, इन चारों भागों में से समुच्चय तथा जीव में चौथा (निरुपचय निरपचय भाँगा पाया जाता है, एकेन्द्रिय जीव में सोपचय सापचय नामक तीसरा भाँगा पाया है क्योंकि उत्तम नवीन जीव पैदा होते हैं और मरते भी हैं, अन्य सब दण्डकों में चारों ही भाँगे पाए जाते हैं। हे भगवन् ! सिद्धों में कौन सा भाँगा पाया जाता है ? हे गौतम ! सिद्धों में प्रथम और चौथा, ये दो भाँगे पाए जाते हैं जो सिद्ध बढ़ते ही बढ़ते हैं किन्तु घटते नहीं हैं उनको सोपचय कहते हैं तथा जो सिद्ध न बढ़ते हैं और न घटते हैं उनको निरुपचय निरपचय कहते हैं इस प्रकार से सिद्ध जीवों में दो भाँगे पाए जाते हैं तथा दो भाँगे नहीं पाए जाते हैं।

हे भगवन् ! समुच्चयतया जीव कितने काल तक निरुपचय निरुपचय रहता है ? हे गौतम ! समुच्चयतया जीव सब काल में निरुपचय निरपचय रहता है।

हे भगवान् ! नारकी जीव कितने समय तक वृद्धि को प्राप्त होता है ? हे गौतम ! नारकी जीव जघन्यतया एक समय तक वृद्धि को प्राप्त होता है तथा उत्कृष्टतया आवलिका के असंख्यातवें भाग तक

वृद्धि को प्राप्त होता है-किन्त दूसरे और तीसरे भाँगों को पहिले भाँगे के समान जान लेना चाहिए।

हे भगवन्! नारकी जीवों में चौथा भाँगा कितने समय तक रहता है अर्थात् नारकी जीव कितने समय तक न तो बढ़ते हैं और न घटते हैं? हे गौतम! नारकी जीवों में चौथा भाँगा जघन्यतया एक समय तक पाया जाता है तथा उत्कृष्टतया बारह मुहूर्त तक पाया जाता है, एकेन्द्रिय जीव समय समय पर पैदा होते हैं तथा निकलते हैं इसलिए उनमें दो भाँगे पाये जाते हैं, अन्य सब जीवों में प्रथम तीन भाँगों का समय जघन्यतया एक समय है तथा उत्कृष्टतया आवलिका असंख्यतवाँ भाग है, निरुपचय निरपचय का काल विरह द्वार के समान जानना चाहिये।

हे भगवन्! सिद्ध महाराज कितने काल तक सोपचय रहते हैं, हे गौतम! वे जघन्यतया एक समय तक तथा उत्कृष्टतया आठ समय तक सोपचय रहते हैं तथा उनका निरुपचय काल जघन्यतया एक समय तथा उत्कृष्टतया छः मास हैं।

श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के पहिले उद्देशक में जो वर्णन किया गया है उसमें से कुछ आवश्यक विषय यहाँ पर लिखा जाता है—गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवान्! जीव कितने समय तक अनाहारक[1] रह सकता है? भगवान् बोले कि हे गौतम! कोई जीव तो प्रथम समय में ही आहार लेता है क्योंकि जब जीव ऋजुगति में जाता है तब वह प्रथम समय में आहारक[2] होता है तथा जब जीव विग्रहगति से जाता है तो भी प्रथम समय में आहारक होता है। कोई जीव दूसरे समय में आहार लेता है तथा कोई नहीं लेता है, जो जीव दो वंक लगाता है वह दो समय तक अनाहारक रहता है अर्थात् तीसरे

१—आहार रहित। २—आहार करने वाला।

समय में आहार लेता है, जो जीव तीन बंक लगाता है वह जीव चौथे समय में आहार लेता है अर्थात् तीन समय तक अनाहारक रहता है, अन्य दण्डक वाले जीव तीसरे समय में नियमात्[1] आहार लेते हैं, एकेन्द्रिय जीव नियमात् चौथे समय में तो आहार को ले ही लेते हैं।

हे भगवन्! कौन से समय में जीव अल्पाहारी होता है? हे गौतम! जीव जब उत्पन्न होता है उसके प्रथम समय में अथवा शरीर छोड़ने के अन्त समय में अल्पाहारी होता है, इस विषय को चौबीस दण्डकों में जान लेना चाहिए।

हे भगवन्! बारह व्रत का धारी श्रावक जिस समय में सामायिक को कर रहा हो उस समय उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है अथवा ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। हे गौतम! उसको साम्पारायिकी क्रिया लगती है किन्तु ईर्या पथिकी क्रिया नहीं लगती है। हे भगवन्! ऐसा क्यों होता है? हे गौतम! सामायिक करने वाले श्रावक का आत्मा अधिकरणिक होता है इसलिए उसको साम्परायिकी क्रिया लाती है।

हे भगवन्! श्रावक को त्रसकाय के आरम्भ का त्याग होता है, उस श्रावक को पृथिवी काय के आरम्भ का त्याग नहीं है यदि पृथिवी काय का आरम्भ करते समय उससे किसी त्रसकाय की हिंसा हो जावे तो उसको त्रसकाय का पाप लगा वा नहीं? हे गौतम! उसका व्रत भंग नहीं हुआ, क्योंकि वह त्रसकाय के घात का कामी[2] नहीं है। हे भगवन्! कोई श्रावक संवृतात्मा साधु को प्रासुक चतुर्विधि आहार देता हुआ क्या प्राप्त करता है?। हे गौतम! साधु को विशुद्ध आहार देता हुवा वह समाधि-सुख को प्राप्त करता है।

हे भगवन्। उक्त विध[3] साधु को देते समय किसका त्याग करना चाहिए? हे गौतम! कर्म की दीर्घ स्थिति होती है, कर्म का

१—नियम से। २—अभिलाषी। ३—उक्त प्रकार के।

सञ्चय होता है उसी का त्याग करना चाहिये, सम्यक्त्व रूप रत्न को प्राप्त करना चाहिये, संसार को परीत करना चाहिये, ऐसा करने से वह सब दुःखों का अन्त करता है। हे भगवन्! कर्म रहित जीव की क्या गति होती है? हे गौतम! संग के न होने से, मोह के न होने से, तथा बन्धन का छेदन करने से वह सिद्ध गति को प्राप्त करता है, देखो,! मूँग की फली तथा उड़द की फली को धूप में रखने से सूखते ही वह फट जाती है और दाना अलग जा पड़ता है इसी प्रकार कर्म का छेदन होते ही जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। हे भगवन्! बिना उपयोग के चलने वाले, खड़े रहने वाले, शयन करने वाले वस्त्र, पात्र और रजोहरणादि का ग्रहण करने वाले साधु को साम्परायिकी क्रिया लगती है अथवा ईर्यापथिकी क्रिया लगती है? हे गौतम! उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है किन्तु ईर्यापथिकी क्रिया नहीं लगती है। हे गौतम! जिसने मोह, माया, क्रोध मान तथा लोभ का त्याग नहीं किया है अर्थात् इसका क्षय जिसके नहीं हुआ है उसको इन्हीं दोषों के कारण साम्परायिकी क्रिया लगती है तथा जिसने क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर दिया है अर्थात् जिसके इन दोषों का क्षय हो गया है उसको ईर्यापथिकी क्रिया लगती है क्योंकि शास्त्रानुसार चलने वाले पुरुष को ईर्यापथिकी क्रिया लगती है।

हे भगवन्! इङ्गाल दोष, धूम्र दोष और संयोजना दोष से युक्त आहार कौनसा कहलाता है? हे गौतम! साधु अथवा साध्वी प्रासुक एषणीय अशनादि का ग्रहण कर उसमें गृन्धु[1] वा मूर्च्छित[2] होकर रोज आहार करता है वह आहार इंगालदोष से युक्त माना जाता है, जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक एषणीय अशनादि का ग्रहण कर उस आहार पर क्रोध अप्रीति और ग्लानि करता हुआ जो आहार करता है

१—लालसावाला। २—आसक्त।

उस आहार को धूम्र दोप युक्त कहा गया है, जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक एपणीय अशनादि का ग्रहण कर उस आहार को खाता हुआ उसमें स्वादिष्टता का गुण वतलावे तथा उसमें और किसी द्रव्य को मिलाकर खाए तो वह आहार संयोजना दोप युक्त कहा गया है।

हे भगवन्! अराधना कितने प्रकार की है? हे गौतम! अराधना तीन प्रकार की है—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना तथा चारित्राराधना। हे भगवन्! ज्ञानाराधना के कितने भेद हैं? हे गौतम! ज्ञानाराधना के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

हे भगवन्! उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य ज्ञानाराधना किसको कहते हैं? हे गौतम! अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवल ज्ञान में यद्वा द्वादशाङ्गी के ज्ञान में जो सदैव प्रवृत्ति और उद्यम है उसको उत्कृष्ट ज्ञानाराधना कहते हैं, ग्यारह अङ्गों के ज्ञान में जो न तो विशेष उद्यम और प्रवृत्ति है और न विशेप प्रमाद है उसको मध्यम ज्ञानाराधना कहते हैं तथा आठ प्रवचनों के ज्ञान में यद्वामति और श्रुत ज्ञान में जो उद्यम और प्रवृत्ति है उसको जघन्य ज्ञानाराधना कहते हैं। हे भगवन् दर्शनाराधना के कितने भेद हैं? हे गौतम दर्शनाराधना के तीन भेद हैं उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य, हे भगवन्! उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य दर्शनाराधना किसको कहते हैं? हे गौतम! क्षायिक सम्यक्त्व के सहित तथा शङ्कादि दोषरहित जो दर्शनाराधना है वह उत्कृष्ट है, क्षयोपशमादि सम्यक्त्व के सहित तथा मध्यम परिणाम से युक्त जो दर्शनाराधना है वह मध्यम है तथा देवादि तीन तत्त्वों की जो आराधना शङ्कादि दोप-युक्त है उसको जघन्य दर्शनाराधना कहते हैं। हे भगवन्! चारित्रा-राधना के कितने भेद हैं? हे गौतम! चारित्राराधना के भी तीन भेद हैं उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। हे भगवन्! उत्कृष्ट, मध्य और जघन्य चरित्राराधना किसको कहते हैं। हे गौतम! यथा ख्यात चारित्र के

आराधक[1] पुरुष की उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, सामायिक से लेकर चार चारित्रों के आराधक पुरुष की मध्यम चारित्राराधना होती है तथा जो पुरुष सामायिकादि का आराधन शिथिलाचारतया[2] करता है उसकी जघन्य चारित्राधना होती है।

हे भगवन्! जिसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, तथा जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है? हे गौतम! जिसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना अथवा मध्यम दर्शनाराधना होती है तथा जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है उसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है।

हे भगवन्! जिसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना भी होती है तथा जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना भी होती है? हे गौतम! जिसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना अथवा मध्यम चारित्राराधना होती है तथा जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है उसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ज्ञानाराधना होती है।

हे भगवन्! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है तथा जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधाना भी होती है। हे गौतम! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है उसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भी चारित्राराधना होती है तथा जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है उसके दर्शनाराधना उत्कृष्ट ही निश्चयता होती है।

इति प्रथम प्रकरणम्।

१—आराधना करने वाला। २—शिथिल व्यवहार से।

द्वितीय-प्रकरण ।

१—जैन मत सम्बन्धी उपयोगी प्रश्नोत्तर ।

गौतम स्वामी ने पूछा कि हे भगवन् ! जल के गर्भ का कितना काल कहा गया है ? भगवान् बोले कि हे गौतम ! जघन्यतया[1] एक समय तथा उत्कृष्टतया[2] छः मास का काल है। हे भगवन् ! तिर्यञ्च जब गर्भ में रहता है तो कितने काल तक रहता है ? हे गौतम ! जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है तथा उत्कृष्टतया बारह वर्ष तक रहता है। हे भगवन् ! एक जीव के कितने पुत्र होते हैं ? हे गौतम ! जघन्यतया एक दो वा तीन पुत्र होते हैं तथा उत्कृष्टतया नव्वे लाख पुत्र होते हैं। हे भगवन् ! मैथुन सेवन से कितना असंयम होता है ? हे गौतम ! देखो ! जैसे बांस की भुंगली को रुई से दाब दाब कर भर दिया जावे, फिर उसमें आग से परितप्त[3] लोहे की शलाका[4] डाली जावे तो उसके संस्पर्श से रुई भस्म हो जाती है, उसी प्रकार से योनि में स्थित जीवों का विध्वंस[5] मैथुन सेवन से हो जाता है, इसलिये संयम के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

हे भगवन् ! शुद्ध वस्तु किस को कहते हैं तथा अशुद्ध वस्तु किसको कहते हैं ? हे गौतम ! जो वस्तु अपने गुणों से संयुक्त है उसको शुद्ध कहते हैं तथा जिस वस्तु में अन्य वस्तु का संयोग होता है

१—कम से कम । २—अधिक से अधिक । ३—तपी हुई । ४—सलाई । ५—नाश ।

उसे अशुद्ध कहते हैं, अशुद्ध वस्तु के दो भेद हैं—शुद्धद्रव्यमिश्रित
तथा अशुद्धद्रव्य मिश्रित, देखो! एक जल रूप वस्तु में मिसरी मिलाई
गई तथा एक जलरूप वस्तु में राख मिलाई गई अथवा विष मिलाया
गया, इसी प्रकार से जीव द्रव्य की तीन दशायें होती हैं, प्रथम सिद्ध
दशा है जिसमें आठों कर्मों का नाश होकर शुद्ध आत्मगुण प्रकट
होता है, जन्म मरण मिट कर सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, यही चेतन की
शुद्धावस्था भी कही जाती है, दूसरी जगद्दशा है, इस दशा में जीव
जगत् में निवास करता है, कर्मों में तत्पर रहता है, शुभ कर्म के वश में
होकर पाँचों इन्द्रियों के विशेष सुख में निमग्न होकर आनन्द का भोग
करता है तथा तीसरी दशा भी जगद्दशा है-इस अवस्था में जीव संसार
में रहकर अशुभ कर्मों के उदय से संसार में केवल दुःख का ही भोग
करता है अर्थात् कहीं साता को नहीं प्राप्त होता है। हे भगवन्!
कार्य किसको कहते हैं और कारण किसको कहते हैं? हे गौतम!
जिसको अपनी इच्छा से करना चाहता है उसको कार्य कहते हैं।
कार्य को उत्पन्न करने का जो निमित्त है उसको कारण कहते हैं।
जैसे देखो! जीव को जो सिद्ध पद की अभिलाषा है अर्थात् मुक्ति में
जाने की जो इच्छा है वह कार्य है और उसकी प्राप्ति के लिये ज्ञान,
दर्शन, चारित्र और तप का जो सेवन करना है, वह कारण है।

हे भगवन्! निश्चय किसको कहते हैं तथा व्यवहार किसको
कहते हैं? हे गौतम! एक वस्तु का जो एक अटल, अनादि और अनन्त
स्वभाव है वही वस्तु का निश्चय स्वरूप है। तथा एक वस्तु का जो
अनेक भावों में परिणमन[1] है उसको व्यवहार कहते हैं। जैसे देखो!
जल का जो शीतलत्व[2] और निर्मलत्व[3] आदि स्वगुण विशिष्ट[4]

१—बदलना। २—ठण्डापन। ३—निर्मलपन। ४—अपने गुणों से युक्त।

आत्म स्वभाव है वह निश्चय है तथा उसका जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का नानारूपों में परिणमन है उसको व्यवहार कहते हैं।

इसी प्रकार जीव द्रव्य का जो निज स्वरूप है तथा पुद्गलों से पृथक्त्व[1] है वह उसका निश्चय स्वरूप है तथा पुद्गलों के साथ में मिलकर चार गतियों और चौवीस दण्डकों में जो परिभ्रमण करना है उसे व्यवहार जानना चाहिये।

हे भगवन् ! द्रव्य किसको कहते हैं और भाव किसको कहते हैं ? हे गौतम ! प्राणी जिस कार्य को करता है परन्तु उसमें अपनी चित्तवृत्ति को नहीं लगाता है अर्थात् शून्य मन से करता है, वस्तु के उपयोग स्वरूप को जानता नहीं तथा लाभ और हानि का भी विज्ञान नहीं है ऐसे कार्य को द्रव्य कार्य कहते हैं तथा जिस कार्य का प्रारम्भ किया हो उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के पर्यायों को जान कर तथा होने और न होने को जान कर उसके कारण की खोज कर साधकता और बाधकता को समझ कर जो कार्य का करना है उसको भाव कार्य कहते हैं जैसे देखो ! घुण जन्तु काष्ठ को करोदता है करोदते २ सहजतया[2] ककार अक्षर बन जाता है परन्तु वह घुण उस ककार अक्षर के भावार्थ को नहीं जानता है अर्थात् यह नहीं समझता है कि यह क्या अक्षर है क्योंकि वह उसके उपयोग से शून्य है, इसलिये ऐसे कार्य को द्रव्य कार्य कहते हैं, तथा उसी ककार को जब कोई पण्डित पुरुष देखता है तब वह ककार के पर्याय का विचार करता है तथा उसके भावार्थ को समझता है, इस कार्य को भाव कार्य कहते हैं।

प्रश्न- भवसिद्ध किसको कहते हैं तथा अभवसिद्ध किसको कहते हैं, दोनों प्रकार के जीव द्रव्य समान हैं, इनमें से एक तो मुक्तिगामी है तथा दूसरा मुक्तिगामी नहीं है।

१—जुदापन। २—सहज में।

उत्तर—यह विषय गूढ़ है, इसका विचार केवलीगम्य है, परन्तु दृष्टान्त के द्वारा इस विषय का कथन किया जाता है, देखो! काष्ठ में अग्नि की सत्ता[1] होती है, परन्तु सब काष्ठों में अग्नि की सत्ता नहीं होती है जिस प्रकार सब काष्ठों की एक जाति है उसी प्रकार सब जीवों की भी एक जाति है, बड़, पीपल, आम, नीम, जामुन चन्दन और अशोक आदि सब ही यद्यपि काष्ठ की जाति हैं, परन्तु इन काष्ठों में अग्नि की सत्ता नहीं है इसी प्रकार अभव्य जीव में मुक्ति में जाने की सत्ता नहीं है, जैसे अरणी काष्ठ में अग्नि की सत्ता है इसी प्रकार भव्य जीव में मुक्ति गमन की सत्ता है, जिस प्रकार अरणी काष्ठों में भी अग्नि की सत्ता न्यूनाधिक रूप में रहती है उसी प्रकार सब भव्य जीवों में भी मुक्ति गमन की संज्ञा न्यूनाधिक रूप में रहती है, भव्य स्वभाव और अभव्य स्वभाव अनादि हैं।

प्रश्न—गुण किसको कहते हैं तथा गुणी किस को कहते हैं?

उत्तर—वस्तु का जो स्वभाव है उसको गुण कहते हैं तथा वस्तु को गुणी कहते हैं, जैसे देखो! राज्य पद तो गुण है तथा उक्त गुण से युक्त जो राजा है वह गुणी है, इसी प्रकार से धन और धनी, ज्ञान और ज्ञानी, तप और तपस्वी आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न—कर्त्ता, कर्म और क्रिया किसको कहतें हैं?

उत्तर—शुभ अशुभ तथा धर्म अधर्म का जो करने वाला है उसको कर्त्ता कहते हैं; अध्यवसाय विशेष रूप निमित्त से जिसका बन्धन होता है उसको कर्म कहते हैं तथा उपकरणों के योजन, योग के वर्तन, एवं बन्ध हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और लेश्या आदि की प्रवृत्ति को क्रिया कहतें हैं—जैसे देखो! जो कृषि कार्य को करता है उसको कर्त्ता

1—विद्यमानता (मौजूदगी)

कहते हैं, धान्यादि रूप जो फल निष्पति है वह कर्म है तथा खाद का बिछाना और निराई करना आदि सब क्रिया है।

प्रश्न—बन्ध किसको कहते हैं तथा मोक्ष किसको कहते हैं?

उत्तर—जगत्-वासी जीव के अनादि और अनन्तकाल से यह स्वभाव लग रहा है कि उसका समय समय पर बन्ध होता है तथा समय समय पर मोक्ष होता है, नवीन नवीन कर्म के बन्धन को बन्ध कहते हैं तथा प्राचीन कर्मों के त्याग को निर्जरा वा मोक्ष कहते हैं, ये बन्धन और मोक्ष सूक्ष्मनिगोद को भी होते हैं तथा इनकी स्थिति चौवीस दण्डकों में है, भव्य जीव को भी ये होते हैं तथा अभव्य जीव को भी होते हैं इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि हे भगवन्! यदि कर्मों के बन्ध और मोक्ष सर्व जीवों के लग रहे हैं तो प्राणी कर्म रहित कैसे हो सकते हैं? तब भगवान् बोले कि हे गौतम! देखो! जिस प्रकार कठिन रोग से पीड़ित कोई मनुष्य है वह उत्तम वैद्य की दवा को खाकर नीरोग हो जाता है तथा रसायनादि औषध का सेवन करने से बलिष्ठ[1] हो जाता है, इसी प्रकार से जो प्राणी पूर्व कर्म के योग से अनन्त जन्म और मरण कर चुका है वह भी उत्तम गुरु रूप वैद्यराज के उपदेश से औषध और रसायन का सेवन कर सब कर्म रूप रोग से छूट जाता है।

हे भगवन्! ज्ञानी पुरुष को कर्म लगता है अथवा नहीं लगता है तथा कर्म बन्ध का कारण क्या है? हे गौतम! यह विषय बहुत बड़ा है-अज्ञानी जीव इस विषय को समझते नहीं हैं, देखो! संसार-वासी जीव चार गतियों में चौवीस दण्डकों में तथा चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते रहते हैं इनको अति कठिनता से नरभव[2] मिलता है,

---

१—बलवान। २—मनुष्य जन्म।

शुभ कर्म के द्वारा आर्य क्षेत्र मिलता है कि जहाँ पर जिनवर के पाँच कल्याणक हुए हैं इसी को आर्य भूमि भी कहते हैं, आर्य क्षेत्र के मिलने पर पूर्ण काल की भी प्राप्ति होती है अर्थात् पूर्ण आयु की प्राप्ति होती है, पाँचों इन्द्रियों के सुख में प्रवृत्ति होती है, निरोग शरीर होता है, विवेक होता है, लोक सम्बन्धी सर्व कलाओं में प्रवीणता[1] होती है तथा किसी समय शुभ कर्म से धर्म की प्राप्ति होती है उसकी प्राप्ति होने से कर्मों का नाश होता है।

अब संक्षेप से कर्मों के स्वरूप का कथन किया जाता है—पहिला ज्ञानावरणीय कर्म है, यह आत्मा के अनन्त ज्ञान को इस प्रकार से ढकलेता है जैसे कि बादल सूर्य के प्रकाश को ढक लेता है। दूसरा दर्शनावरणीय कर्म है—यह आत्मा के अनन्त दर्शन का आवरण[2] कर लेता है यह भी कर्म अशुभ है।

तीसरा वेदनीय कर्म है, इसके उदय होने से प्राणी को साता और असाता, दोनों का भोग करना पड़ता है, खड्ग की धारा पर शहद लगा कर यदि उसको चाटा जावे तो चाटते समय मीठा लगता है परन्तु शहद के दूर होने से जबान कट जाती है, इसी प्रकार से वेदनीय कर्म का उदय होने पर शहद के चाटने के समान सातावेदनीय है तथा जीभ के कटने के समान असाता वेदनीय है, यह कर्म शुभ रूप तथा अशुभ रूप भी है, यह कर्म आत्मा के अनन्त सुख का आवरण करता है।

चौथा मोहनीय कर्म है यह आत्मा को मोहित करता है, जिस प्रकार मद्यपान किया हुआ मनुष्य विवेक रहित हो जाता है अर्थात् उसको हित और अहित का विचार नहीं रहता है इसी प्रकार से इस कर्म का उदय होने से आत्मा मोहित हो जाता है, यह कर्म एकान्ततया[3]

१—चतुराई। २—आच्छादन। ३—सर्वथा।

अशुभ है। पाँचवाँ आयुः कर्म है, यह कर्म अनन्तकाल तक अनन्त जन्मों और मरणों के द्वारा निज कर्म का खण्ड २ करता है, जिस प्रकार से जंजीर से बाँधा हुआ मनुष्य परवश[1] होकर कुछ नहीं कर सकता है इसी प्रकार से जीव आयुः कर्म के वश में होकर चार गतियों में भ्रमण कर शुभ और अशुभ फल का भोग करता है।

छठा नाम कर्म है, इसका उदय होने से जीव भली या बुरी गति में जाकर इन्द्रिय और शरीर विशेष के योग से विविध[2] संस्थानादि को प्राप्त होकर नवीन २ नामों को निष्पन्न[3] करता है, यह शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का है, जिस प्रकार चित्रकार विविध रंगों के योग से अनेक प्रकार के चित्रों को बनाता है उसी प्रकार का इस कर्म का स्वभाव है।

सातवाँ गोत्र कर्म है—इस कर्म का उदय होने से उच्च गोत्र अथवा नीच गोत्र होता है अर्थात् इस कर्म योग से जीव जाति, कुल बल, रूप, लाभ, श्रुत, तप और प्रभुता इन आठ वस्तुओं को उच्च रूप में भी पाता है तथा नीच रूप में भी पाता है, जैसे कुम्भार मिट्टी से अनेक प्रकार के बर्तनों को बनाता है, उनमें से किसी बर्तन में अच्छी वस्तु भरी जाती है तथा किसी बर्तन में निकृष्ट वस्तु भरी जाती है इसी प्रकार से इस कर्म का उदय होने से जीव उच्च और नीच गोत्र को धारण करता है, यह कर्म शुभरूप और अशुभ रूप भी है।

आठवाँ अन्तराय कर्म है, इसका उदय होने से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, बल और वीर्य की प्राप्ति नहीं होती है, जिस प्रकार राजा का कोई मित्र राजा की आज्ञा होने पर भी दान नहीं देता है इसी प्रकार से प्राणी सकल

१—पराधीन। २—अनेक प्रकार के। ३—सिद्ध।

सामग्री को पाकर भी इसके उदय से धर्मकार्य में उद्यम नहीं करता है, यह कर्म अशुभ रूप है। इन पूर्वोक्त आठ कर्मों में से-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, ये चार कर्म एकान्ततया[1] अशुभ हैं, धर्म के घातक[2] हैं तथा वेदनीय, आयुः, नाम और गोत्र, ये चार कर्म अघातक[3] हैं तथा शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। चार घातक कर्मों का कुछ दल घटता है उत्कृष्ट स्थिति का दल मिटता है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की स्थिति जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा उत्कृष्टतया तीस कोटाकोटी सागर की है, मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा उत्कृष्टतया सत्तर कोटाकोटी सागर की है, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति जघन्यतया[4] आठ अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा उत्कृष्टतया[5] बीस कोटाकोटी सागर की है तथा आयुः कर्म की स्थिति जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त्त की है तथा उत्कृष्टतया तेंतीस सागर की है। इन कर्मों के लघु होने से संसार की दशा से कुछ विरक्त[6] भाव होता है। धन, यौवन, गृह और स्त्री की ओर से मन हटता है परन्तु ऐसी दशा में भी अन्य दर्शन की श्रद्धा में यदि लीन रहता है तो कुछ लाभ की प्राप्ति नहीं होती है-क्योंकि अन्यदर्शन का ज्ञान मिसरी से लिप्त छुरी के समान है जैसे मिसरी से लिप्त[7] छुरी को चाटने से वह भी मीठी लगती है परन्तु अन्त में छेदन करती है, इसी प्रकार मिथ्यात्वी का ज्ञान चाहे स्वर्ग का प्रापक[8] भले ही हो परन्तु वह जन्म और मरण को नहीं मिटा सकता है, अर्थात् मोक्षदाता नहीं हो सकता है। सत्य है तो यह है कि जिस प्रकार मोती और कङ्कर में अन्तर है,

---

१—सर्वथा। २—नाशक। ३—अनाशक। ४—कम से कम। ५—अधिक से अधिक। ६—वैराग्य। ७—लिपी हुई। ८—प्राप्ति करने वाला।

केसर और धूल में अन्तर है, सोना और पीतल में अन्तर है तथा अमृत और विप में अन्तर है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में अन्तर है। कुछ मिथ्यात्वीजन यद्यपि क्रिया अनुष्ठान, जप, तप, दान पुण्य तथा परलोक गमन आदि बातों को मानते हैं तथा जप, तप आदि को मुक्ति का साधन भी मानते हैं तथापि वे इस बात को नहीं जानते हैं कि हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, पच्चीस प्रकार के कपाय और विपय विकार, ये सब पुद्गल के अङ्ग हैं, इनके साथ जो हमारा सदा संग है वह जन्म और मरण की वृद्धि को करता है, भवोदधि[1] में डालता है, जब इनके साथ हमारा सम्बन्ध छूटेगा तब ही हम सिद्ध स्वरूप बनेंगे, किञ्च-वे लोग पट् द्रव्य के स्वरूप को भी नहीं जानते हैं, अज्ञान के वश में होकर वे लोग बाहरी करणी को करते हैं—अतएव उनको कुछ लाभ नहीं होता है, यद्यपि वे लोग कभी २ मास २ का तप करके पारणा करते हैं तथा अति अल्पाहार भी करते हैं तथापि शुद्ध श्रद्धा के बिना उनको मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है, मिथ्यात्वी जन कुदेव कुगुरु और कुधर्म में रत[2] रहते हैं अतः उनका निस्तार[3] कभी नहीं हो सकता है।

प्रश्न--कुदेव किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो काम से पीड़ित होकर स्त्री भोग की इच्छा करे, शत्रु को मारना चाहे, सवारी में बैठकर भ्रमण करे तथा राग द्वेष से पूर्ण हो उसे कुदेव जानाना चाहिये, जो देव स्वयं काम और क्रोध आदि से पूर्ण हैं वे देव दूसरे को मुक्ति कैसे दे सकते हैं। जो स्वयं ही जन्म और मरण से नहीं छूटे हैं, वे दास को कैसे तार सकते हैं, कुगुरु वे हैं जो कि कनक[4] और कामिनी[5] के लोभी हैं। पट्काय के

१—संसार समुद्र। २—तत्पर। ३—छुटकारा। ४—सोना। ५—स्त्री।

आरम्भ में प्रवृत्त रहते हैं, विषयों के भोग में आसक्त[1] रहते हैं, परलोक के साधनों का चिन्तन नहीं करते हैं, सदा कुकर्मों में प्रवृत्त रहते हैं संसार के मोह जाल में बँधे रहते हैं, मिथ्या क्रियाओं को सत्य मानते हैं, ऐसे गुरु न तो स्वयं तर सकते हैं और न दूसरों को तार सकते हैं, कुगुरु लोग हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते हैं, यज्ञ, होम, पशुवध, संग्राम बालमरण, जीवित दशा में जल प्रवेश वा अग्नि प्रवेश आदि कार्यों में धर्म की प्ररूपणा करते हैं। उक्त सर्व कार्यों को कुधर्म जानना चाहिये, हिंसा में धर्म मानना अर्थात् षट्काय जीव की हिंसा को धर्म समझना, यही कुधर्म का लक्षण है।

जैन शास्त्र में धर्म दो प्रकार का कहा गया है। अनगार धर्म और आगार धर्म, इनमें से अनगार धर्म साधु का है तथा आगार धर्म गृहस्थ का है, इनका संक्षेप से वर्णन किया जाता है-गृहस्थ के बारह व्रत हैं उनमें से प्रथम व्रत की मर्यादा यह है कि त्रस जीव अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को जानकर पहिचान कर शरीर में पीड़ा को उत्पन्न करने वाली क्रिया को न करे, सापराधिता[2] को प्रकट कर संकल्प करके हनने और हनाने की बुद्धि से कोई क्रिया न करे अर्थात् हनने और हनाने का प्रत्याख्यान करे, मृत्तिका, जल, अग्नि, पवन, वनस्पति, ईंधन काष्ठ, किराना, कण और धान्य आदि की निश्राय से यदि कोई जीव अज्ञात दशा में मरे तथा संसार सम्बन्धी काम में मरे, औषध करते मरे वा अयतना से कोई त्रस जीव मरे, यद्वा अनुकम्पा करते में अयतना हो जावे, इत्यादि बातों को समझकर एवं आगार धर्म के निर्वाह के लिए हनन का प्रत्याख्यान करे, वास्तव में परवश रूपतया आगार धर्म है। तात्पर्य यह है कि असमर्थता और रुग्णावस्था आदि कारण से

१—तत्पर। २—अपराध सहित होना।

आगार धर्म निर्वाह है; अतः हनने और हनाने का प्रत्याख्यान है, दो करण और तीन योगों से इसके पाँच अतिचार हैं जिनका सेवन करने से व्रत को भंग करता है यद्वा मलीन करता है-पहिला अतिचार त्रस जीव को कठिन बन्धन देना है, दूसरा अतिचार लाठी वा पत्थर से प्रहार करना है, तीसरा अतिचार कैंची आदि से चमड़ी का छेदन करना यद्वा पूँछ और कान का काटना है चौथा अतिचार मर्यादा से अधिक भार का लादना है तथा पाँचवां अतिचार, भक्त, पानी चारा का भंग करना है, यदि श्रावक देश की अपेक्षा व्रत का भंग नहीं करता है तो उसका प्रथम व्रत शुद्ध रहता है। दूसरा अणुव्रत मृषा त्याग है, इसमें—मोटे मृपाभापण[1] का त्याग करना पड़ता है। अपने स्वार्थ के लिये कन्या के लेने के हेतु आयु के विपय में झूंठ बोलना यद्वा रोग के विपय में झूंठ बोलना अपने स्वार्थ के लिये गाय के व्यावन के विपय में झूंठ बोलना, भोमाली धरती के विपय में झूंठ बोलना, दूसरे की स्थापनिका (धरोहर) को मारने के लिये झूंठ बोलना तथा लालच के वश में होकर झूठी गवाही देना, इन पाँच प्रकार के मिथ्या भापणों का त्याग दो करणों और तीन योगों से करना चाहिये, इसके भी पाँच अतिचार हैं, किसी की अज्ञात चोरी जारी को राजा के आगे प्रकट करना, किसी की गुप्त वात को प्रकट करना तथा स्त्री पुरुप के गुप्त कुकर्म का प्रकाश करना[2], झूंठा उपदेश देना तथा दूसरे के काम को बिगाड़ना, झूंठा खत (पत्र) लिखना तथा मिथ्यागवाही का देना, इन पाँच, अतिचारों के त्याग करने से दूसरे अणुव्रत का शुद्धतया पालन हो सकता है।

तीसरा अणुव्रत वड़ी चोरी का प्रत्याख्यान रूप है इस व्रत का पालन करने के लिए झूठी जमानत देना, परोक्ष में स्वामी की आज्ञा के

१—मिथ्याभापण। २—यदि सत्य भी हो तो भी प्रकाशित नहीं करना चाहिए।

बिना गांठ को खोलना, दूसरी चावी को लगाकर दूसरे का ताला खोलना, धाडेवाले से मिलकर मार्ग में अवरोध करना, किसी की वस्तु को जान बूझकर चुरा लेना, ग्राम को घेरना, छत आदि का उल्लंघन करना, रण युद्ध करना, जल युद्ध करना, इत्यादि कार्यों का प्रत्याख्यान् करना चाहिए, इस तीसरे व्रत के भी पाँच अतिचार हैं–चोरी की वस्तु का सहज में मिलना यद्वा सस्ती देखकर लेना, यह प्रथम अतिचार है, चोरों को चोरी करने के लिए उत्साहित करना, चोरों को खाने पीने आदि के लिए खर्च देना, चोरों की खबर रखना तथा खोज को मिटाना, यह दूसरा अतिचार है। राजा की आज्ञा का भंग करना तथा कर (हासिल) की चोरी करना, यह तीसरा अतिचार है, मार्ग में पड़ी हुई किसी मनुष्य की किसी वस्तु को जानबूझ कर उठा लेना यह चौथा अतिचार है, झूँठी तौल और झूँठी माप को रखना, भली बुरी वस्तु का संयोग करना भली वस्तु को दिखा कर पीछे बुरी वस्तु का देना, यह पाँचवाँ अतिचार है, दो करणों तथा तीन योगों से इन पाँचों अतिचारों का त्याग करने से तीसरे व्रत का शुद्धतया पालन होता है। चौथा अणुव्रत ब्रह्मचर्य सम्बन्धी है, इसका सेवन करने के लिए विवाह के पश्चात् केवल ऋतु समय में अपनी स्त्री का संग करना चाहिए। वेश्या, दासी तथा अन्य स्त्री का प्रत्याख्यान करना चाहिए, देवाङ्गना का दो करणों तथा तीन योगों से प्रत्याख्यान करना चाहिए मनुष्य तथा तिरश्ची (तिर्यञ्चनी) का एक करण और एक योग से प्रत्याख्यान करना चाहिए तथा एक करण और तीन योगों से प्रत्याख्यान करना चाहिए, इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं उनको टालना चाहिए अपनी स्त्री बहुत ही छोटी हो उसका संग करना, यह पहिला अतिचार है, अपरिगृहीततया सगाई की हो पाणि ग्रहण नहीं किया हो उसका सेवन करना तथा लोकनिन्दा करना, यह दूसरा अतिचार है,

अनङ्गक्रीड़ा[1] के वश में होकर रीति का उल्लंघन कर अरीति का सेवन करना अर्थात् उभय लोक विरुद्ध मनुष्य से या पशु से मैथुन करना, यह तीसरा अतिचार है, दूसरे की सगाई को छुड़ा कर अपनी सगाई करना यह चौथा अतिचार है तथा काम भोग की तीव्र अभिलाषा कर एकाग्र चित्त से उसी में लीन रहना तथा उसी के उद्देश्य से मद्य मांस का सेवन करना तथा इस व्यवहार से देवगुरु और धर्म में श्रद्धा का घटाना, यह पाँचवाँ अतिचार है, इन पाँचों अतिचारों का त्याग करने से इस चौथे व्रत का शुद्धतया पालन होता है।

पाँचवाँ अणुव्रत परिग्रह विरमण है—इसका सेवन करने के लिए निकृष्ट वृत्ति का त्याग करना चाहिए, लोक निन्द्य व्यापार का त्याग करना चाहिए, सर्वदा व्यापार के लिए भागना न चाहिए, धर्म-वृत्ति से धनकी वृद्धि करनी चाहिए, क्षेत्रतया उघाड़ी भूमि का ग्रहण करना चाहिए, वस्तुतया ढकी वस्तु का परिमाण करना चाहिए, भूमि अर्थात् घर और हाट आदि का परिमाण करना चाहिए, हिरण्य अर्थात् अनघड़ी चाँदी का परिमाण करना चाहिए सुवर्ण अर्थात् अनघड़े सोने का परिमाण करना चाहिए, धान्य अर्थात् चौवीस प्रकार के अन्न का परिमाण करना चाहिए, द्विपद अर्थात् दास दासी नौकर चाकर का परिमाण करना चाहिए, चतुष्पद गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, गधा, खच्चर और बकरे आदि का परिमाण करना चाहिए। कुप्यधातु अर्थात् घर की वर्तन और शय्या आदि वस्तु का यावज्जीवन उपयोग करना चाहिये, इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं उनका त्याग कर इस व्रत का पालन करना चाहिये—क्षेत्र वस्तु के परिमाण का लोपना, यह पहिला अतिचार है, हिरण्य और सुवर्ण के परिमाण का लोपना, यह दूसरा

१—कामक्रीड़ा।

अतिचार है, धनधान्य के परिमाण का लोपना यह तीसरा अतिचार है, द्विपद और चतुष्पद के परिमाण का लोपना, यह चौथा अतिचार है तथा कुप्यात धातु के परिमाण का लोपना, यह पाँचवाँ अतिचार है दो करणों तथा तीन योगों से इन पाँचों अतिचारों का त्याग करने से पाँचवें व्रत का शुद्धतया पालन होता है।

छठा दिग्व्रत है, इसका सेवन करने के लिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः, इन छः दिशाओं का परिमाण करना चाहिये अर्थात् मर्यादा का त्याग कर जीवन पर्यन्त गमन नहीं करना चाहिये, इसके भी पाँच अतिचार हैं उनका त्याग करना चाहिये। ऊर्ध्व दिशा के परिमाण का लोपना, यह पहिला अतिचार है, नीची दिशा के परिमाण का लोपना, यह दूसरा अतिचार है, तिरछी दिशा के परिमाण का लोपना, यह तीसरा अतिचार है, दिशा को लाभ का कारण जानकर उस दिशा के अधिक परिमाण को बढ़ाना तथा अन्य दिशा के कोशों का घटाना, यह चौथा अतिचार है तथा मार्ग में चलते समय कोसों का सन्देह पड़ने पर और अधिक चलना, यह पाँचवां अतिचार है, दो करणों तथा तीन योगों से इनका त्याग करने से इस छठे व्रत का पालन शुद्धतया होता है।

सातवाँ व्रत उपभोग परिभोग सम्बन्धी है—वस्तु विशेष का जो एक बार सेवन करता है उसको उपभोग कहते हैं तथा वस्तु विशेष का जो वारवार सेवन किया जाता है उसको परिभोग कहते हैं, इस व्रत का पालन करने के लिये रेशमी वा सूती यद्वा अन्य प्रकार के अङ्गोछे का परिमाण करना चाहिये, बबूल नीम आदि जाति की दाँतून का परिमाण करना चाहिये, आँवला और अरीठा आदि फलों का परिमाण करना चाहिये, अभ्यङ्ग[1] सम्बन्धी तैल आदिका परिमाण

१—मालिश।

करना चाहिये, उबटन (पीठी) की जाति का परिमाण करना चाहिये, मंजन का परिमाण करना चाहिये, पोशाक सम्बन्धी वस्त्र जाति का परिमाण करना चाहिये, पुष्प की जाति का परिणाम करना चाहिए। आभूषण (गहना) की जाति का परिमाण करना चाहिये, औटी हुई दवा (उकाली) की जाति का परिमाण करना चाहिये, मिठाई की जाति का परिमाण करना चाहिये, चाँवल की जाति का परिमाण करना चाहिये, सूप (दाल) की जाति का परिमाण करना चाहिये, दूध, दही, घृत, तैल और मीठा, ये विगय हैं इनकी जाति तथा मद्य, मांस-मधु और मक्खन, ये चार महा विगय हैं इनकी जाति का परित्याग करना चाहिये, क्योंकि इनका सेवन करने वाला नरक में जाता है, जिनमार्गानुयायी को इनका भोग कदापि नहीं करना चाहिये, शाक की जाति का परिमाण करना चाहिये, फल और मेवा की जाति का परिमाण करना चाहिये उष्ण रसोई का परिमाण करना चाहिये, पानी की जाति का परिमाण करना चाहिये, लौंग, इलायची, सुपारी आदि मुख वास की जाति का परिमाण करना चाहिये, वाहन (सवारी) की जाति का परिमाण करना चाहिये, बैठने और सोने की जाति (आसन और शय्या आदि) का परिमाण करना चाहिये, उपानत् (जूते) की जाति का परिमाण करना चाहिये, सचित्त वस्तु की जाति का परिमाण करना चाहिये, सचित्त और अचित्त सर्व प्रकार के द्रव्य की जाति का त्याग करना चाहिये, इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं-अकेले सचित्त का आहार करना, यह पहिला अतिचार है सचित्त और अचित्त को मिला कर खाना, यह दूसरा अतिचार है पूर्णतया[1] न पके हुए पदार्थ को खाना, यह तीसरा अतिचार है त्रस काय जीव के अंश से मिश्रित बुरी तरह से रंधे हुए पदार्थ का खाना, यह

१—अच्छी तरह से।

चौथा अतिचार है तथा जिस पदार्थ में से थोड़ा सा भाग खाया जावे और विशेष भाग फेंका जावे (जैसे बेर, सांठा और सीताफल आदि) ऐसे पदार्थ का खाना, यह पाँचवा अतिचार है, इन पाँचों अतिचारों के परित्याग करने से सातवें व्रत का शुद्धतया पालन होता है।

पन्द्रह कर्मादान हैं अर्थात् कर्म के उपादान हैं अर्थात् इनसे त्रस काय की हिंसा होती है और कर्म बन्धन होता है, इसलिये इनका सर्वदा त्याग करना चहिये, इनका यहाँ पर संक्षेपतया[1] वर्णन किया जाता है—जिस व्यापार में त्रसकाय की हिंसा होती है वह व्यापार नहीं करना चाहिये, तथा उसकी दलाली भी नहीं खानी चाहिये, श्रावक के लिये ऐसा व्यापार त्याज्य[2] है।

इङ्गाल कर्म अर्थात् कोयले का व्यापार नहीं करना चाहिये, गृह खर्च के लिये आगार रख लेना चाहिये।

वन्न कर्म अर्थात् वन्न को कटाने का व्यापार नहीं करना चाहिये तथा उसकी दलाली भी नहीं करनी चाहिये।

साड़ी कर्म अर्थात् गाड़ी, रथ, बहली, खाट, हल, मूसल इत्यादि का व्यापार नहीं करना चाहिये तथा इनकी दलाली भी नहीं करनी चाहिये।

भाड़ी कर्म अर्थात् ऊँट, बैल, घोड़ा और गधा आदि को रख कर भाड़ा नहीं कमाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने वाले पुरुष के मन में पशुदया नहीं रहती है।

फोड़ी कर्म अर्थात् पत्थर को फुड़वाना, खान का खुदाना, चाकी, ऊखल आदि का बनवाना, इत्यादि व्यापार नहीं करना चाहिये तथा उसकी दलाली भी नहीं करनी चाहिये।

१—संक्षेप में। २—छोड़ने योग्य।

दन्तवणिज् अर्थात् हाथी दांत का व्यापार नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस व्यापार में बहुत से हाथियों की मृत्यु की वाञ्छा[1] होती है।

लाक्षावणिज् अर्थात् पीपल, बेरड़ी खैर, गूंद और बबूल आदि वृक्षों में से लाख और गोंद को निकलवा कर व्यापार नहीं करना चाहिये।

केशवणिज् अर्थात् गाय, भैंस, घोड़ा, और ऊँट आदि केश वाले पशुओं का व्यापार नहीं करना चाहिये तथा उनके केश, सींग और चमड़े को नहीं बेचना चाहियें।

रसवणिज् अर्थात् मद्य, माखन, गुड़, खाँड़ शक्कर, घृत, तैल, दूध और दही आदि को नहीं बेचना चाहिये तथा इनकी दलाली भी नहीं करनी चाहिये।

विषवणिज् अर्थात् सोमल खार, सिंगीमोहरा, भाँग और अफ़ीम आदि का व्यापार नहीं करना चाहिये।

यन्त्र पीड़न कर्म अर्थात् तिल, सरसों एरण्ड और अलसी आदि का पीड़न करना वा कराना नहीं चाहिये तथा दलाली भी नहीं करनी चाहिये। लाञ्छन कर्म अर्थात् घोड़ा बैल और मनुष्य आदि चतुष्पदों को तथा द्विपदों को दागने, जलाने तथा नाक बाँधने का व्यापार नहीं करना चाहिये। दव कर्म (अग्निदाह कर्म) अर्थात् पर्वत में, वन में खेत में तथा ग्राम में आग लगाने का कर्म नहीं करना चाहिये।

जल कर्म अर्थात् तालाब, ह्रद, बावड़ी और कुआ के जल को सुखाना तथा बन्ध की पाल को तोड़ना इत्यादि कर्म नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से अनेक जलचर जीवों की तथा त्रस काय जीवों की हिंसा होती है।

1—इच्छा।

असइजण पोसणिया अर्थात् अपने स्वार्थ के लिये कुत्ता, बिल्ली और कूकरे का पोषण नहीं करना चाहिये।

इन पूर्वोक्त पन्द्रह कर्मादानों का त्याग श्रावक को करना चाहिये, इनका त्याग कर त्रसकाय की हिंसा का त्याग करना चाहिये।

अठवाँ व्रत अन्यथादण्ड से निवृत्ति है, इसके चार भेद हैं अपध्यान, प्रमादाचरण, हिंसाचरण और मृपानुवन्धी, इनमें से गत-काल के स्वार्थ का सोच करना, आगामी काल की चिन्ता न करना, धन के उपाय की चिंता करना, कर्तव्य कार्य की चिन्ता न करना अयोग्य कर्म की चिन्ता करना, राग रंग का सुनना तथा राग-द्वेष में तीव्र परिणाम का रखना, इसको अपध्यान कहते हैं, क्योंकि इससे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की वृद्धि होती है। प्रमाद में विचरण करने को प्रमादाचरण कहते है—जैसे मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा में समय को वृथा गमाना, धर्म क्रिया का उद्यम न करना, पानी का न छानना, घृत, तैल दूध दही के वर्त्तन को न ढकना इत्यादि प्रमादयुक्त कार्य के द्वारा जीवों की हिंसा करना। हिंसाचरण अर्थात् हिंसा का आचरण करना, जैसे कुशास्त्र का दान करना, मिथ्यात्वी को उपकरण का दान करना, चक्की, ऊखल, मूसल, जूती, छुरी, कटारी चाकू और शस्त्र आदि का दान करना।

चौथा मृपानुवन्धी यह है कि पिता, पुत्र भाई और सगे सम्बन्धी आदि को पाप का उपदेश देना, खाना पीना कर लेना, कपड़े धो लेना रात्रि को शयन कर लेना, पोट का उठा लेना, मद्य मास का चाख लेना, परदारा[1] का सेवन कर लेना, चोरों को मार लेना, दुश्मन को उड़ा देना तथा लड़का लड़की व्याह लेना, इत्यादि अनर्थ दण्ड निवृत्ति का पालन करने के लिये इन चारों दोषों का त्याग करना चाहिये तथा दो करणों और तीन योगों से अनर्थ दण्ड का परित्याग करने से इस

१—परस्त्री।

व्रत का विशुद्धतया पालन होता है। किञ्च इस व्रत के पाँच अतिचार हैं उनका भी त्याग करना चाहिये-कन्दर्प[1] की कथा करना, यह पहिला अतिचार है, भाँड की चेष्टा करना तथा मसखरी करना यह दूसरा अतिचार है, मुखरता पूर्वक[2] वचन बोलना, यह तीसरा अतिचार है काम भोग का बढ़ाना, यह चौथा अतिचार है तथा अधिकरण को बढ़ाना, यह पाँचवाँ अतिचार है, इन पाँच अतिचारों के टालने से आठवें व्रत का शुद्धतया पालन होता है।

नवाँ अणुव्रत सामायिक है, इसका सेवन करने के लिये दो करणों तथा तीन योगों से दो घड़ी तक पाप से निवृत्ति और अठारह पापों का प्रत्याख्यान करना चाहिये, इसके भी पाँच अतिचार हैं—मनोयोग का कुत्सित वर्ताव करना, यह पहिला अतिचार है, वचन योग का कुत्सित वर्ताव करना, यह दूसरा अतिचार है, काययोग का कुत्सित वर्ताव करना, यह तीसरा अतिचार है, सामायिक में समता न करना यह चौथा अतिचार है तथा सामयिक काल के पूरा होने से पहिले ही उसको पूरा करना, यह पाँचवां अतिचार है, इन अतिचारों के टालने से नवें व्रत का विशुद्धतया पालन होता है।

दशवाँ व्रत दिशावकाशी—संवर का सेवन सामायिक के समान करना चाहिये, भेद केवल इतना है कि इसके काल की मर्यादा एक क्षण से लेकर सब दिन तक की है, इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—मर्यादा की बँधी हुई भूमि का उल्लंघन कर उससे बाहर की वस्तु का मँगाना, यह पहिला अतिचार है, भीतर से बाहर रखना, यह दूसरा अतिचार है, शब्द करके अपने आगमन[3] को जतलाना, यह तीसरा अतिचार है, रूप को दिखला कर अपने आगमन को जतलाना, यह चौथा अतिचार है तथा पुद्गलों को डालकर अपने आगमन को जतलाना यह

१—कामदेव। २—बकवाद के साथ। ३—आने।

पाँचवां अतिचार है, इन पाँचों अतिचारों के टालने से दशवें व्रत का विशुद्धतया पालन होता है।

ग्यारहवाँ अणु व्रत पौषध व्रत है, यह अहोरात्रिमान से आठ प्रहर का होता है इस काल में चतुर्विध (अशन, पान, खादिम और स्वादिम) आहार का त्याग करना चाहिये, स्त्री का त्याग करना चाहिये, मणि, सुवर्ण, माला और आभूषण का त्याग करना चाहिये, शस्त्र और मूसल आदि सावद्य[1] योग का त्याग करना चाहिये, सावद्य वचन और व्यापार का त्याग करना चाहिये, दो करणों तथा तीन योगों से प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा धर्म का जागरण करना चाहिये, इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—लघुनीती तथा बड़ी नीती के स्थान पर प्रति लेखना करना, यह पहिला अतिचार है, विना पूंजे रखना तथा उपयोग के विना पूंजना, यह दूसरा अतिचार है, शय्या और संस्तारक की प्रतिलेखना न करना, यह तीसरा अतिचार है उपयोग के विना पूंजना, यह चौथा अतिचार है तथा निन्दा और विकथा का करना, यह पाँचवां अतिचार है, इन पाँचों अतिचारों को टालने से ग्यारहवें व्रत का विशुद्धतया पालन होता है।

बारहवाँ व्रत अतिथि संविभाग है, इसका पालन करने के लिये श्रमण[2] निर्ग्रन्थ[3] साधु को अशन, पान, खादिम स्वादिम आहार शुद्ध भाव से देना चाहिये, एवं वस्त्र, पात्र, शय्या, संथार, पीठ, फलक और औषध आदि भी विशुद्ध भाव से देना चाहिये, दान देकर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये, किन्तु मन में ऐसा हर्ष मानना चाहिये कि आज मेरा जन्म सफल हुआ है कि मुझे आज अपने हाथ से उत्तम पात्र को दान देकर अपूर्व लाभ हुआ है, संसार में माता, पिता,

---

१—दोष। २—तपस्या में श्रम करने वाले को श्रमण कहते हैं। ३—ग्रन्थि (गांठ) से रहित।

पुत्र, कलत्र[1], सगे सन्बन्धी आदि को जो देना है यद्वा उनका जो पोपण करना है वह तो इस लोक का कार्य है परन्तु परभव[2] का संगी तो सत्य श्रमण निर्ग्रन्थ ही है. इस बारहवें व्रत के भी पाँच अतिचार हैं—सूजती सचित्त वस्तु का ऊपर रखना, यह पहिला अतिचार है, सचित्त से ढकना यह दूसरा अतिचार है, काल का अतिक्रमण[3] करना यह तीसरा अतिचार है, दान का भाव न होने से अपनी वस्तु को पराई बतलाना, यह चौथा अतिचार है, तथा अहङ्कार के साथ दान देना, यह पाँचवां अतिचार है इन पाँचों अतिचारों के टालने से इस व्रत का विशुद्धतया पालन होता है। यहाँ पर यह संक्षेप से बारह व्रतों का कथन किया गया है अर्थात् आगार धर्म का किञ्चित् स्वरूप बतलाया गया है—अनगार धर्म का वर्णन अनेक शास्त्रों में विस्तारपूर्वक किया गया है-इसलिये उक्त धर्म का वर्णन कर यहाँ पर संक्षेपतया यह दिखलाया जाता है कि साधु धर्म का पालन करने के लिये साधु को कैसा वर्तना चाहिये—"न विद्यतेऽगारं गृहं यस्य सोऽनगारः" अर्थात् जिसके गृह नहीं है उसको अनगार कहते हैं, दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिये कि जिसके किसी बात का आगार नहीं है उसको अनगार कहते है, अर्थात् जिसने तीन करणों और तीनों योगों से सावद्य का प्रत्याख्यान कर दिया है, जिसने नौ कोटि का त्याग किया है, जिसने तीन चौकड़ियों को नष्ट कर दिया है, जिसका मन समान है, जो ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों में सदा उद्योग करता है, जो शुभ परिणाम की धारा को बढ़ाता है, जिसने राग और द्वेष को नष्ट कर दिया है, ईर्पा का परित्याग कर दिया है जो अपने में मेरु तुल्य गुण होने पर भी उसको प्रकट नहीं करता है तथा दूसरे के अवगुण को दबाता है, किन्तु अवगुण से विशिष्ट मनुष्य को एकान्त में अवगुण के विषय में समझाता है, जो अवगुण वाले व्यक्ति की

१—स्त्री । २—परलोक । ३—उल्लंघन ।

निन्दा नहीं करता है किन्तु उस व्यक्ति से उसके अवगुण की निन्दा एकान्त में करता है उसको अनगार कहते हैं, ऊपर कहे हुए विषय पर लक्ष्य देकर कहना पड़ता है कि साधुता का मार्ग अति बाँका और गहन है अतः इसका पालन करने वाले भी कोई विरले ही शूर होते हैं, शोक के साथ कहना पड़ता है कि आज इस पञ्चम काल में चारों तीर्थों में अत्यधिक क्लेश, चुगली, अविद्यमान दोषों का लगाना, अपना दोष छिपाना तथा दूसरे को निरर्थक कलङ्कित करना, इत्यादि कुत्सित व्यवहार बहुत बढ़ गया है, किञ्च इसी व्यवहार के कारण चारों तीर्थों में विशुद्ध धर्म पक्ष तो बहुत कम दृष्टिगोचर होता है तथा राग द्वेष का पक्ष बहुत बढ़ गया है इसी राग के कारण अपना अवगुण दृष्टिगत नहीं होता है, सत्य है "अर्थी दोषं न पश्यति" यही जगत् की रीति है, आत्म कल्याणार्थी साधु वा श्रावक उसी को समझना चाहिये कि जो पराई निन्दा और ईर्ष्या का सर्वथा त्याग करता है, गुसाईं तुलसीदास जी ने कहा है कि—

कञ्चन तजिबो सहज है, सहज त्रिया को नेह ।
पर निन्दा पर ईर्षा, तुलसी दुर्लभ एह ॥१॥

श्री जिनभगवान् के कहे हुए धर्म के चारों तीर्थों को सब से पहिले दीर्घ दृष्टि से इस बात का विचार करना चाहिये कि अपना क्या मार्ग है तथा हमारे लिये श्री जिनराज ने क्या फरमाया है, बस इसी बात का विचार कर एवं अपने को तदनुकूल बनाकर निज धर्म का पालन करना चाहिये ।

श्रीठाणाङ्ग और समवायाङ्ग में कहा है कि—दुविहे बंधणे राग विहे बंधणे धेसविहे बंधणे ॥१॥ इस कथन से सिद्ध होता है कि ये राग द्वेष दोनों ही कर्मों के उपादान हैं, इसलिये इन दोनों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि इन दोनों के छूटने से ही विशुद्ध धर्म का पालन

होकर मुक्ति के सम्मुख हुआ जावेगा, किन्तु जहाँ तक ये दोनों बन्धन के हेतु नहीं छूटेंगे वहाँ तक ज्ञान, ध्यान, तप संयम और नियम मुक्तिदायक नहीं हो सकते हैं इसलिये सबसे पहिले जैन समाज को इन दोनों दोषों को जीतने के लिये प्रयत्न करना चाहिये; वर्त्तमान समय में उक्त दोनों दोषों के कारण चारों तीर्थ द्रव्य जैनी बन रहे हैं, अतः भाव जैनी बनने के लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये, अतएव जैन भ्राताओं और बहिनों से प्रार्थना है कि यदि आप लोग आत्महित चाहते हैं तो कषायों[1] का त्याग करो तथा निन्दा और विकथा का भी परित्याग करो। खेद का विषय तो यह है कि जब पञ्च महाव्रतधारी भी इनसे बचने का उद्यम नहीं करते हैं तब गृहस्थों का तो कहना ही क्या है, हाँ यह मुक्तकण्ठ से कहना पड़ता है कि कहीं कहीं गृहस्थ भी ऐसे हैं जो संयमी से भी अधिकतर दीख पड़ते हैं, परन्तु यह कहते हुए लज्जा आती है कि संयमधारी हम लोगों में तो ढोल में पोल हो रही है तो दूसरों के लिये हमारे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता है, प्रथम तो जैन समाज में एक धर्मानुयायी होने पर भी दिगम्बर और श्वेताम्बर, ये दो मत हो रहे हैं, फिर दिगम्बरों में भी तीन फिरके हैं— बीस पन्थी, तेरह पन्थी और गुमान पन्थी, इस पर भी आश्चर्य तो यह है कि इन तीनों फिरकों में भी परस्पर बड़ी भारी ईर्ष्या चल रही है, श्वेताम्बर में भी बाईस टोले, पीताम्बरी और तेरह पन्थी, ये तीन फिरके हैं, इन फिरकों में भी परस्पर में तो घोर ईर्ष्या है ही किन्तु आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक फिरके में भी आपस में ईर्ष्या ने अपना अड्डा जमाया है, देखिये बाईस टोले में आपस में कैसी बड़ी ईर्ष्या होरही है कि एक दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, कहते हैं कि "यह ढीला है, हम उत्कृष्ट हैं" इस प्रकार कह कर मूर्खों को बहकाते हैं,

---

१—क्रोधादि।

हमारी यही दशा देखकर तो लोगों ने उक्तियाँ की हैं कि—"यह ढीला हम हैं उत्कृष्ट। बोली बोले सुन्दर मिष्ट ॥ बोधा ने वहकावे दुष्ट। ते किमि पावे मुक्ती इष्ट ॥" सच तो है हमारे ऊपर यह उक्ति पूर्णतया घटित होती है, यदि हम उपर्युक्त व्यवहार को न करते तो लोग हमारे विषय में ऐसा क्यों कहते और यदि अब भी हम उक्त व्यवहार को छोड़दें तो लोग हमारे विषय में ऐसा कहने का साहस कैसे कर सकते हैं, अतः कहना यही है कि—

समाज का सुधार करो साधो।
एकता पे झट कमर बाँधो ॥
ज्ञान का तुम वाण साँधो।
मुक्ति को तो शीघ्र लाधो ॥
राग द्वेष की करदो टाल।
समभाव की राखो माल ॥
काम क्रोध का छोड़ो जाल।
तव पहुँचो मुक्ती में हाल ॥

सर्व साधु और सतियों से मेरी सविनय प्रार्थना है कि सब मिलकर अर्थात् एकता का लाभ लेकर समाज का सुधार करो, अपनी चित्त वृत्ति को स्थिर करो तथा धर्म की हेलना को मत करो।

अब पीताम्बरियों का हाल सुनिये-इनमें भी एकता नहीं है, इनमें भी खरतरगच्छ और तपागच्छ आदि कई गच्छ हो रहे हैं, कोई चार थुइयों को मानते हैं कोई तीन थुइयों को मानते हैं, इनमें भी आपस में लट्ठ चलते हैं, एक दूसरे को अपशब्द बोलते हैं, यहाँ तक सुना जाता है कि किसी किसी मौके पर आदमी घायल तक हो जाते हैं वाह वाह जैनो! क्या यही जैन मत का आदर्श है? "परोपदेशकुशल बहुतेरे" दूसरों को उपदेश देने में बहुत से लोग प्रवीण[1]

1—चतुर।

होते हैं, अपना हाल विरले देखते हैं, लोगों का कहना कुछ और करना कुछ और होता है।

तेरह पन्थियों की भी दशा ऐसी हो रही है--सुनिये--

अब सुनो तेरपन्थी की बात। झूँठ न अहै रती भी मात ॥
दयादान के हैं ये घाती। सबकी निन्दा करना भाती ॥
महावीर में चूक बतावें। फेर ध्यान उनहीं का ध्यावें ॥
शास्त्र विरुद्ध विवाद मचावें। आप डूब औरन डूबावें ॥
नेत्र खोलकर देखो भाई। क्यों आपनि मति बौराई ॥
हस्तीभव में दया पलाई। जिससे परत संसार कराई ॥
नेमि जिणन्दहु दया जु पाली। सब पशुअन की हिंसा टाली॥
तोरण से रथ पीछावाली। झूरति थोड़ी राजल वाली ॥
तीर्थङ्कर पद है अतिभारी। दया धर्म के जो अधिकारी ॥
वर्षदान है संयम धारा। सब शास्त्रन में है अधिकारा ॥
नृप परदेशी था अति मोटा। जिसने लिया धर्म का ओटा ॥
केशि स्वामि पै धर्मनि ओटा। चतुर्थ भागन को जोटा ॥

इन लोगों से हमें यही कहना है कि शास्त्रों में जहाँ तहाँ प्रथम दया धर्म का अधिकार है, जैन शास्त्रों को भली भाँति देख कर समझो उसमें अपना कुतर्क मत लगाओ, क्योंकि भगवद्वचन में कुतर्क करने से अनन्त संसार की वृद्धि होती है, हठ का त्याग करो, देखो! आजकल के जीव तुच्छ हैं, चौदह पूर्वधर भी वचन योग में जब चूक जाते हैं तब हमारी तुम्हारी क्या गिनती है, इसलिये हमारा तुम्हारा तो यही कर्त्तव्य है कि जिज्ञासु बन कर शुद्ध जैन धर्म का आराधन करें और उसका महत्व बढ़ावें, सब लोग मिलकर परस्पर में एकता रक्खें तभी शुद्ध जैनी कहला सकते हैं, साधुजनों को उचित है कि राग द्वेष को छोड़ कर समदर्शी हो कर निज धर्म का आराधन

करें, परोपकार के लिये यत्न करें तब ही वे वास्तविक साधु कहे जा सकते हैं।

मैंने यह उचित समझ कर यहाँ पर इतना लिखा है, यदि मेरा कथन योग्य प्रतीत हो तो उसको स्वीकार करो यदि मैंने कुछ विपरीत लिखा हो यद्वा मिथ्या दोष लगाया हो तो—" मिच्छामिदुक्कडं " सर्व चौरासी लाख जीवों से खमत खामणा है, मेरा मनोभाव है कि यहाँ पर जो कुछ मैंने कथन किया है वह अपने मन से वा राग द्वेष से नहीं किया है किन्तु जैनशास्त्र के मन्तव्य को हृदयङ्गत कर तद्विरुद्ध वार्तमानिक व्यवहार को देख कर विवश होकर इतना लिखा गया है।

२—सम्यक्त्व—विचार

श्री जिनराज वीतराग देव ने मुक्ति मार्ग का प्रकाश भली भाँति किया है, उस मार्ग पर चलने से मनुष्य सहज में ही जन्म मरण से छूट कर अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है, परन्तु खेद है कि इस पञ्चमकाल के दोष से आत्म ज्ञान का समझना कठिन हो रहा है, पूर्वकाल में जिन लघुकर्मा जीवों ने आत्म ज्ञान के रस का आ-स्वाद लिया है वे संसार सागर से पार हो गए हैं, वर्त्तमान समय में याथातथ्य मार्ग का प्ररूपण करने वाले और उस पर चलने वाले थोड़े हैं, मेषी प्रयाणवत् देखा देखी पक्ष का ग्रहण करने वाले अबोधजन बहुत से दीखते हैं, जो आत्म कल्याणार्थीजन हैं, उनको यह बात हृदयङ्गत कर लेनी चाहिए कि शुद्ध सम्यक्त्व जो है वही मोक्ष का मूल है इसलिए शुद्ध सम्यक्त्व की परीक्षा कर उसका ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र का कथन है कि—

दसणभगजीवा आराहण दव्वचरण सुह जोगे।
ते सव्वेहिं सुभ सुभ बंधो मोक्खस्स साहणो नत्थी ॥१॥

इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व धर्म का मूल है और वह (सम्यक्त्व) दो प्रकार का है—व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व, जो मनुष्य संसार भ्रमण से भीत हों तथा मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषी हों उनको सम्यक्त्व की परीक्षा करनी चाहिये, देखो ! जीव को काल लब्धि के योग से सम्यक्त्वावरणी अर्थात् सम्यक्त्व का ढकना रूप जो कर्म है उस कर्म की स्थिति का क्षयोपशम होने से आत्मा उज्ज्वल भाव को प्राप्त होता है, उसी गुण से जीवात्मा को पौद्गलिक सुख से दूर होने की वाञ्छा प्रकट होती है तथा आत्मा निजगुण ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रमण करता है, अर्थात् निज स्वभाव में रमण करता है, आत्मस्वरूपानुभव में अनुरक्त रहता है इसी को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं तथा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में जो प्रवृत्ति है तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म से जो निवृत्ति है, अर्थात् इनमें जो रुचि का न करना है उसे व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिए।

प्रश्न—सुदेव किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो चौंतास अतिशयों से संयुक्त है, पैंतीस वाणी के गुणों से सम्पन्न है, एक हज़ार आठ शुभलक्षणों का धारक है अठारह दोषों से रहित है तथा बारह गुणों से युक्त है, उसी को सुदेव कहते हैं।

प्रश्न—सुगुरु किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु के सत्ताईस गुणों से विराजमान है, कनक और कामिनि का त्यागी है तथा संवृतात्मा है, उसको सुगुरु कहते हैं।

प्रश्न—सुधर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर - जिस धर्म में पूर्वापर में विरोध नहीं है, किसी का पक्षपात नहीं है, विशुद्धतया षट्काय के जीवों की रक्षा का जिसमें प्रतिपादन किया गया है तथा जिसमें अपने आत्मा और परात्मा को समान समझने का निर्देश है उसी को शुद्ध धर्म कहते हैं यह धर्म श्री जिनप्रतिपादित है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान समय उक्त में जैन धर्म में भी अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो रहे हैं तथा मत पक्षी कदाग्रही बहुत से उपदेशक उत्सूत्र प्ररूपणा कर रहे हैं तथा अपने पक्ष को खींचने के लिए दूसरों की निन्दा में प्रवृत्त हो रहे हैं। देखो ! दिगम्बर आम्नाय में अधिकतर श्वेताम्बर मत की निन्दा की गई है, श्री जिन मार्ग में न तो किसी की निन्दा की गई है और न निन्दा करने का उल्लेख ही है किन्तु दिगम्बर मतवाले तो भर पेट श्वेताम्बर की निन्दा करते हैं, वे कहते हैं कि श्वेताम्बर मत में ये वचन हैं-केवली को केवली नमस्कार करे। निन्दक को मारने का पाप नहीं है। महावीरजी की बेटी माली को व्याही गई। कम्पिल धातकीखण्ड से आया, केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, पीछे नाचा। यदि कोई साधु को माँस का आहार देवे तो उस आहार को खा लेवे, फेंके नहीं। सुलसा श्राविका के देवता से पुत्र उत्पन्न हुआ। चक्रवर्ती के छः हजार स्त्रियाँ थीं। (त्रिपृष्ठ) वासुदेव ने छीपा के यहाँ जन्म लिया। जुगलिया का मृतक शरीर पड़ा रहता है। जुगलिया परस्पर में लड़ते हैं। सावत फल खाने में दोष नहीं है। वाहुवल ने मुगुल रूप धारण किया। यदि साधु कामी हो जाय तो श्रावक अपनी स्त्री को देकर उसे तृप्त करे। गंगादेवी से भरतजी ने भोग किया। इत्यादि अनेक बातें कहकर श्वेताम्बर शास्त्र को व्यर्थ में कलङ्कित करते हैं तथा मिथ्या दोष लगाते हैं, क्योंकि श्वेताम्बर शास्त्र के मूल पाठ में इनमें से एक बात का भी उल्लेख नहीं है, यदि हो तो दिगम्बरी लोग उसे दिखलावें, मालूम होता है कि किसी कदाग्रही ने मनः कल्पना से ऐसा लिख मारा है, इस प्रकार के वचन कहने वाले एकान्त मिथ्या वादी जानने चाहिएं, ऐसे लोगों के वचनों को शास्त्र नहीं किन्तु शस्त्र कहना चाहिए, हाँ इतनी विशेषता है कि शस्त्र तो एक भव में ही मारता है किन्तु ऐसे लोगों के वचन रूपी शस्त्र अनेक भवों तक मारते हैं अर्थात् अनन्तभवों की वृद्धि करते हैं, अतएव जो लोग ऐसे

वचनों को सुनते हैं तथा उनकी पुष्टि करते हैं वे सम्यक्त्व रूपी रत्न को मिथ्यात्व रूपी कीचड़ में डालते हैं।

दिगम्बर मत वाले यह भी कहते हैं कि "श्वेताम्बर ऐसा कहते हैं कि केवली के रोग होता है, केवली के आहार होता है, केवली के नीहार होता है, केवली के विहार होता है तथा केवली के उपसर्ग होता है ये पाँचों बातें केवली ने कही हैं" यह उनका कथन विवेक से रहित है। जो पुरुष शास्त्र की निन्दा करता है उसे सर्वथा शास्त्र का द्वेषी जानना चाहिये, दिगम्बर मत के शास्त्र में भी केवली के रोगादि का सम्भव माना है, ज्ञानी पुरुषों को इन सब बातों का निर्णय करना चाहिये, किन्तु जो लोग हठग्राही हैं वे तो केवल अपने हठ का ही अनुसरण करते हैं।

दिगम्बर आम्नाय के गोमटसार तथा गुणस्थान मार्गणा में तेरहवें गुणस्थान में बयालीस प्रकृतियों का उदय कहा है। इन बयालीस प्रकृतियों में साता और असाता, इन दोनों का उदय है ऐसा कहा है, यदि कोई यह कहे कि—"जली जेवरी के समान है" सो यह ठीक है यदि ऐसा कहते हो तो आयुः कर्म भी तो जली जेवरी के समान है, परन्तु उसको भोगे विना मोक्ष कैसे हो सकता है, इसी प्रकार से साता और असाता के भोगे विना मोक्ष कैसे हो सकता है, इसलिये साता और असाता का सम्भव है।

इन लोगों के समयसार समाधि तन्त्र तथा चर्चाशतक में ग्यारह परीषहों का उदय तेरहवें गुणस्थान में कहा है, देखो ! इनके सूत्रजी में यह कहा है कि "एकादस जिने क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस मंप चर्यासय्यावधरोग तृणस्पर्श जलमें लये ॥१॥" ये ग्यारह परीषह केवली के बतलाये हैं परन्तु उनको तो शास्त्र का अर्थ विपरीत दीखता है, कहते हैं कि क्षुधा और तृष्णा तो जली हुई जेवरी के समान है किन्तु आयु भी तो जली हुई जेवरी के समान है परन्तु उसका क्षय किये विना मुक्ति में नहीं जाता है, इसी प्रकार से साता और असाता को

भोगे विना मुक्ति में कैसे जा सकता है, वे भी तो उदयभाव में हैं, तो फिर उनके भोगे विना मुक्ति में कैसे जा सकता है, इसलिये साता और असाता का सम्भव है, देखो ! वेदनीय पुद्गलों के शुभाशुभ-संयोग से क्षुधा और तृषा उत्पन्न होती है कोई प्रतिपक्षी लोग ऐसा कहते हैं कि नरकादि में प्राणी दुःख पाता है तथा तिर्यक् लोक में अशुभ पुद्गल हैं और केवल ज्ञान से सब कुछ दीखता है उसको देखते हुए केवली आहार कैसे करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवली के रागद्वेष नहीं होता है तथा दुर्गन्ध आदि का भी नाश हो गया है, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है।

प्रश्न—घाती कर्मों का क्षय होने से केवल ज्ञान प्रकट हुआ है-ज्ञानरूपी वस्तु ज्ञाता का गुण है परन्तु पुद्गलों का पलटना यह गुण कहाँ से आया ?

उत्तर—इसका उत्तर केवल यही है कि तुम सच्ची श्रद्धा को स्वीकार नहीं करते हो तथा मत के हठ से अयोग्य वचन कहते हो, जिस प्रकार धतूरा खाया हुआ पुरुष श्वेत वस्तु को पीली बतलाता है किन्तु जब नशा उतर जाता है तब वह उसे पीली नहीं कहता है, इसी प्रकार अश्रद्धा वा कुश्रद्धा वाले को असत्य विषय सत्य दीखता है, किन्तु जब सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वह सत्य को सत्य रूप से मानता है। देखो ! गणधर रचित शास्त्र में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु छद्मस्थ रचित जो ग्रन्थ हैं उनमें सन्देह रहता है, बात यह है कि जब चौदह पूर्वधर भी वचन योग में स्खलित हो जाते हैं तब औरों का तो कहना ही क्या है।

दिगम्बर मत में अनेक स्थानों में विरुद्ध बातें भी लिखी हैं— एक पुराण में लिखा है कि कीचक मुक्ति में गया, दूसरी जगह लिखा है

कि नरक में गया। सीता चरित्र में लिखा है कि सीता के पिता जनक हैं माता विदेहा है, भामण्डन में सीता युगुलपन में जनमी तथा पद्म-पुराण में यह लिखा है कि सीता रावण की बेटी थी और मन्दोदरी से पैदा हुई थी, यह कैसी परस्पर विरुद्ध बात है।

एक पुराण में बाईसवें जिनराज का गर्भकल्याणक तथा जन्म कल्याणक सोरीपुर में होना माना गया है, दूसरे पुराण में इन दो कल्याणकों का द्वारकापुरी में होना लिखा है।

कहीं ऐसा कहा गया है कि द्वारका में सोरीपुर एक पहाड़ है। शिखर माहात्म्य में कहा है कि जो शिखर जी की यात्रा करता है वह नरक में तथा तिर्यग् योनि में नहीं जाता है, परन्तु पद्मपुराण में लिखा है कि रावण और लक्ष्मण ने शिखर जी की यात्रा की थी फिर वे नरक में क्यों गये? इत्यादि अनेक विरुद्ध बातों का कथन किया गया है, ऐसे विरुद्ध वचन वाले शास्त्रों को सुन कर मूर्ख जनों को क्या बोध हो सकता है, उलटे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं।

दिगम्बर लोग श्वेताम्बर मत के विषय में यह भी आक्षेप करते हैं कि "श्वेताम्बर लोग स्त्री को महाव्रत धारिणी मानते हैं तथा उसका मुक्ति में जाना भी मानते हैं" इस बात को सुन कर अज्ञानी जन भ्रम में पड़ते हैं, इन्हीं के गोमटसारचर्चा शतक में कहा है कि नवें गुण-स्थानक तक स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसकवेद का उदय रहता है, अब यही विचार करने की बात है कि जब नवें गुणस्थानक तक स्त्री वेद का उदय रहता है तब छठे में क्यों नहीं रहता है? यह कैसी इनकी मूर्खता की बात है, बुद्धिमान् जन इसका विचार करें, नेत्र वाले को दीपक प्रकाश करता है परन्तु अन्धे के लिये प्रकाश नहीं करता है। स्त्रियों के महाव्रत का बाधक कोई शास्त्रीय वचन नहीं है परन्तु हठग्राही जन कैसे समझ सकते हैं, हठग्राही लोगों से यदि कोई

बुद्धिमान् जन कुछ पूछता है तो वे लोग हठ के कारण कुहेतु लगाकर यह कहने लगते हैं कि—"नवें गुणस्थानक में भाव स्त्री रहती है किन्तु द्रव्य स्त्री नहीं है" ऐसा सुन कर मन्द बुद्धि लोग प्रसन्न होते हैं वे विचारे तत्त्व को क्या समझें। इन्हीं के षट् पाहुड़ा के तीसरे पहुड़ा में एक गाथा कही है कि—

"वीसनपुंस कवेया इत्थीवेया हुंति चालीसा।
पुंवेया अड़याला समएण एगेण सिज्झंति॥ १ ॥

इस वाक्य में स्त्री को मुक्ति का होना कहा गया है, फिर न जाने वे लोग स्त्री की मुक्ति में क्यों विरोध करते हैं। इस विषय में दिगम्बर लोग यह भी कहते हैं कि "स्त्री अशुद्ध होती है अतः वह महाव्रतों का पालन नहीं कर सकती है" इत्यादि, उन लोगों से कहना चाहिये कि पुरुष भी तो अशुद्ध हैं उनके शरीर में भी तो सर्व धातु और उपधातु अशुद्ध हैं फिर उनकी मुक्ति क्यों होती है? इसका उत्तर उनके पास कोई नहीं है, बुद्धिमान् जन इस विषय का निर्णय स्वयं करलें।

दिगम्बर लोग श्वेताम्बरानुयायी साधुओं के विषय में प्रायः यह भी कहा करते हैं कि—"श्वेताम्बर साधु शूद्र के घर का आहार पानी लेते हैं" ऐसा कह कर उनकी निन्दा किया करते हैं परन्तु वे लोग इस बात को नहीं सोचते हैं कि चतुर्थ आरक में चारों ही वर्णों का बर्ताव एक था, पुत्र पुत्री विवाह बर्त्ताव भी था तथा खान पान भी समान था, अतः शूद्र का आहार निषिद्ध नहीं हो सकता है, इस पञ्चमकाल में तो श्रावक जन भी वर्णविरोधी दीख पड़ते हैं प्रथम अग्रवाल और खण्डेलवाल आदि जातियाँ क्षत्रिय थीं वे अपनी जातिता को छोड़ कर वैश्य जाति बनी हैं; यदि वे क्षत्रिय जाति से बनी हैं

तो क्षत्रिय जाति तो मांस का आहार करती थी—तुम स्व वर्ण से विवर्ण बन कर पूर्व जाति का अपमान क्यों करते हो, यदि तुम मांसाहारी के घर का आहार अशुद्ध[1] मानते हो तो मांसाहारी को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिये, पद्मपुराण में कथन है कि राजा शिवदास मनुष्य का मुर्दार मांस खाया करता था तथा मनुष्य को मार कर खाया करता था वह पात्र शुद्ध कैसे हो गया ? उसने मुनिपद को कैसे पा लिया ? अतः कुल का अभिमान नहीं करना चाहिये, क्रिया प्रधान है किन्तु कुल प्रधान नहीं है।

दिगम्बर लोग यह भी कहा करते हैं कि—"श्वेताम्बर लोग घर घर की भिक्षा करते हैं तथा मकान को बन्द कर आहार करते हैं" इत्यादि, इसका उत्तर यह है कि अबोधजन अपना घर सँभाले बिना अयोग्य भाषण करते हैं, इसका समाधान वे स्वयं मूलाचार जी में देख सकते हैं उसमें आहार के ४६ दोषों का वर्णन किया है, बुद्धिमान् जन उसका अवलोकन कर निर्णय कर सकते हैं परन्तु हठग्राहियों की तो बात ही दूसरी है, स्थापना औद्देशिक मिश्र जातिय दोष किस प्रकार से टल सकता है तथा याचना परीषह अलाभ परीषह है वह किस प्रकार से होता है, मूलाचार के अनुसार ही घर घर की भिक्षा का, सम्भव है, अर्थात् एक घर की भिक्षा का सम्भव नहीं है, अभिग्रह का भी कई घरों की भिक्षा के बिना सम्भव नहीं होता है।

दिगम्बर लोग कहते हैं कि "श्वेताम्बर शास्त्र में मुनि को वस्त्र-धारण कहा है, वस्त्र का धारण परिग्रह रूप है, अतः वस्त्रधारी को महाव्रत पालन नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्व परिग्रह का त्याग नहीं होता है इत्यादि" इस विषय में यही कहना है कि अरे भोले भाइयो !

[1]—त्याज्य।

विचार तो करो कि बाईस परीषह जो कहे गये हैं, उनमें क्षुधा परीषह और अचेल परीषह भी है, ये दोनों परीषह समान दीखते हैं, वास्तव में भोजन और वस्त्र, ये दोनों देह धारण के उद्देश्य से कहे गये हैं परन्तु मत पक्षी लोग जो एक आँख को खोलते हैं और दूसरी को वन्द रखते हैं उनको जिन मार्ग प्राप्ति का लाभ कहाँ से हो सकता है, क्षुधा परीषह के उत्पन्न होने पर जिस प्रकार घर घर में आहार की गवेषणा करनी पड़ती है तथा ३२ कवल आहार का ग्रहण करना पड़ता है उसी प्रकार वस्त्र की इच्छा होने पर वस्त्र की गवेषणा करनी पड़ती है, अब वे लोग जैसे वस्त्र को परिग्रह रूप मानते हैं उसी प्रकार वे आहार को भी परिग्रहरूप क्यों नहीं मानते हैं, क्योंकि दोनों का समान विषय है।

प्रश्न—भोजन अल्प परिग्रह रूप है तथा वस्त्र अधिक परिग्रह रूप है इसलिये दोनों का समान विषय नहीं होसकता है ?

उत्तर—अरे भोले भाइयो ! साधु को तो थोड़ा परिग्रह अथवा अधिक परिग्रह सब ही छोड़ना चाहिये, क्योंकि परिग्रहत्त्व तो दोनों में समान ही है।

प्रश्न—आहार परिग्रह में नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह तो देह का आधार है।

उत्तर—अरे भोले भाइयो ! ठीक है आहार देह का आधार है किन्तु मोक्ष का तो कारण नहीं है फिर उसका ग्रहण क्यों करते हो ?

प्रश्न—आहार की तो मर्यादा है कि वह ३२ कवल मात्र लिया जाता है अतः वह परिग्रह कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जिस प्रकार आहार की मर्यादा है उसी प्रकार वस्त्र की भी तो मर्यादा है अर्थात् साधु मर्यादा के अनुसार वस्त्र का ग्रहण करता है तो फिर आहार परिग्रह रूप नहीं है और वस्त्र परिग्रह रूप है यह कैसे कहा जा सकता है।

प्रश्न—वस्त्र में तो जुआ आदि जन्तु पड़ जाते हैं, इसलिये उसका त्याग करना आवश्यक है।

उत्तर—वस्त्र में जैसे जुआ आदि जन्तु पड़ते हैं उसी प्रकार भोजन करने से पेट में चूरणिया आदि जन्तु भी उत्पन्न हो जाते हैं अतः समान विषय होने से वस्त्र के समन भोजन का भी त्याग करना चाहिए।

देखो! शास्त्र में मूर्छा (आसक्ति) को परिग्रह कहा गया[1] है, इसलिये जिन लोगों की आहार में अथवा वस्त्र में मूर्छा होती है, उनको परिग्रही जानना चाहिये तथा जिन लोगों की उनमें मूर्छा नहीं है उन्हें परिग्रह रहित जानना चाहिये, क्योंकि वे लोग तो संयम पालन करने के लिये देह धारण के उद्देश्य से आहार और वस्त्र का ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार आहार के विना देह धारण नहीं हो सकता है उसी प्रकार से शीत कालादि में वस्त्र के विना देह धारण नहीं हो सकता है, अतएव जो मुनि वस्त्र धारण नहीं करते हैं वे शीतकाल में कोठे के भीतर घास को बिछाते हैं तथा शरीर के ऊपर भी घास को डालते हैं, यों तो ऐसा करने पर भी शरीर का ममत्व तो प्रकट होता ही है, किन्तु जिन लोगों का शरीर पर ममत्त्व नहीं रहता है, तो उन्हें वृक्ष के नीचे रहना चाहिये, उन्हें कोठे के भीतर नहीं घुसाना चाहिये, यह बात अवश्य जान लेना चाहिये कि जिन प्रणीत धर्म निश्चय और व्यवहार इन दोनों का आश्रय लेता है, केवल एक नय से उसका निर्वाह नहीं हो सकता है। दिगम्बरी लोग श्वेताम्बरियों से यह भी कहते हैं कि—"श्वेताम्बरी लोग श्रीजी के बिम्ब को आभूषण तथा लंगोट धारण करवाते हैं, यह श्रीजी का चिन्ह नहीं है" ठीक है दर्पण में यदि

१—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो । इति वचन प्रामाण्यात् ॥

मुख को बाँका देखो तो बाँका दीखेगा; सीधा देखो तो सीधा दीख पड़ेगा, हमें तो इस विषय में दोनों की भूल प्रतीत होती है जो लोग कड़ा और मुकुट को धारण कराते हैं वे भी भूल करते हैं तथा जो (दिगम्बर लोग) श्री जी को रथ में विठला कर कच्चे पानी से स्नान कराते हैं तथा हरी वस्तु को चढ़ाते हैं वे भी भूल करते हैं क्योंकि श्रीजी तो सकल वस्तु के त्यागी हैं, उन्होंने संसार सम्बन्धी सर्व कार्य का त्याग कर दिया है फिर उनको भोग दशा में पहुँचाना कहाँ तक न्याय है, अतः इस विषय में दोनों की भूल समझनी चाहिये, किञ्च दिगम्बरों में एक बात यह और भी देखी जाती है कि वे दीपमालिका की रात्रि में लड्डू चढ़ाते हैं इनका यह व्यवहार भी अयोग्य है क्योंकि जब रात्रि में जैन मात्र के लिए खान पान का निषेध है तब भला भगवान् का भोग रात्रि में लगाना शास्त्र सन्मत कैसे हो सकता है, आश्चर्य की बात तो यह है कि वे लोग केवली के आहार का निषेध मानते हैं और फिर भी भोग की वस्तु को आगे रख कर भोजन कीआमन्त्रणा करते हैं यह बात यदि किसी शास्त्र से सिद्ध हो सकती है तो दिगम्बर लोग पक्षपात को छोड़ कर सिद्ध कर दिखावें।

दिगम्बर भाई चर्म जल में तथा अन्नादि के धोवन में महा पाप बतलाते हैं, इस विषय में कहना इतना ही है कि कालाति क्रान्त धोवन के ग्रहण करने में पाप है, क्योंकि उसका दो घड़ी का वा एक प्रहर का समय बतलाया गया है, इन के मूलाचार ग्रन्थ में ही धोवन का अधिकार है, फिर उनका धोवन ग्रहण की निन्दा करना व्यर्थ है, आश्चर्य की बात तो यह है कि वे लोग चीनी खाँड़ खाते हैं, चीनी की खाँची में अनन्त निगोद राशि कही गई है, इसके अतिरिक्त नीच जाति के लोग उसे पैरों से खूँदते हैं, पञ्चेन्द्रिय आदि जीवों के शरीर खाँची में गलते हैं, फिर सांभर नमक के विषय में विचारना चाहिये कि

उसकी उत्पत्ति भी किस प्रकार होती है फिर भी वे लोग इन वस्तुओं को रुच रुच कर खाते हैं, कहिये अब शुद्धता कहाँ रही? ये लोग दूसरों के लिये अवर्णवाद करते हैं, परन्तु अपने घर को नहीं सँभालते हैं।

श्वेताम्बर शास्त्र में कहीं भी दिगम्बर का नाम तक नहीं है, परन्तु दिगम्बर शास्त्र में स्थान स्थान पर श्वेताम्बरियों की निन्दा लिखी है, इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर शास्त्र प्रथम के और दिगम्बर शास्त्र पिछले हैं, प्रथम शास्त्रों में पिछलों की निन्दा कहाँ से हो सकती है, पिछले शास्त्रों में ही पहिलों की निन्दा हुआ करती है, वास्तव में तो जिस शास्त्र में अन्य की निन्दा का उल्लेख हो वह शास्त्र ही नहीं है किन्तु उसे शस्त्र कहना चाहिये, श्री सर्वज्ञ भगवान् ने तो ऐसा फर्माया है कि किसी की हेलना-गर्हणा करने वाले लोग निन्दक होकर नरक के अधिकारी होते हैं, अब अन्त में अपने दिगम्बर भाइयों से हमें यही कहना है कि आप लोग मत सम्बन्धी पक्षपात तथा दुराग्रह का त्याग कर श्री सर्वज्ञ के वचन पर सत्य श्रद्धा कर उनके कहे हुए मार्ग का अनुसरण करें तभी आत्मा का कल्याण हो सकता है।

॥ इति द्वितीय प्रकरणम् ॥

तृतीय-प्रकरण

१—ज्ञान-वर्णन।

श्रीजैनसिद्धान्त में ज्ञान[1] पाँच प्रकार का कहा गया है—आभिनि बोधक ज्ञान[2], श्रुतज्ञान[3], अवधि ज्ञान[4], मनः पर्याय ज्ञान[5], तथा केवल ज्ञान[6]।

प्रश्न—सबही ज्ञानों में पदार्थ का ज्ञान कराना रूप एक स्वभाव है तो फिर उक्त स्वभाव के होने पर ज्ञान को एक ही मानना चाहिये, उसके आभिनि बोधिक आदि पाँच भेद क्यों किये गये हैं?

१—जानने को ज्ञान कहते हैं अथवा जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसको ज्ञान कहते हैं। २—पदार्थ के सम्मुख तथा प्रति नियत स्वरूप वाला जो बोध है उसको अभिनि बोध तथा आभिनिबोधिक भी कहते हैं तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और मन के द्वारा योग्य देश में स्थिति वस्तु का बतलाने वाला तथा स्पष्ट प्रतिभास वाला जो ज्ञान विशेष है उसको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। इसको मति ज्ञान भी कहते हैं। ३—वाच्यवाचक भाव के द्वारा शब्द से विशिष्ट पदार्थ के ग्रहण का कारण तथा मन इन्द्रिय से होने वाला जो ज्ञान विशेष है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। ४—केवल रूपी द्रव्यों में परिच्छेदकता के द्वारा प्रवृत्तिरूप जो अवधि है उस अवधि से उपलक्षित ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं। ५—मन में अथवा मन के पर्यायों का बोधक जो ज्ञान है उसे मनः पर्याय ज्ञान कहते हैं, इसे मनः पर्यव तथा मनः पर्यय भी कहते हैं। ६—मति आदि ज्ञानों की अपेक्षा से रहित एक असहाय तथा सर्ववस्तुओं का ज्ञान कराने वाले ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं।

उत्तर—ज्ञान के पाँच पृथक् पृथक् परिस्थूल[1] निमित्त हैं इसलिये ज्ञान पाँच प्रकार का कहा गया है। देखो! सकलघाती कर्मों का क्षय केवल ज्ञान का निमित्त है आमर्पौषध्यादि लब्धियों से युक्त तथा सर्वथा प्रमाद से रहित पुरुष का विशिष्ट अध्यवसाय के सहित जो अप्रमाद है वह मनः-पर्याय ज्ञान का निमित्त है—इन्द्रियों से न जानने योग्य विशेष प्रकार के रूपी द्रव्यों के साक्षात् ज्ञान का कारण जो क्षयोपशम विशेष है वह अवधिज्ञान का कारण है तथा लक्षणों में भेद आदि[2] मति और श्रुतज्ञान के निमित्त हैं, इन्हीं निमित्तों के विभिन्न होने से ज्ञान के पाँच भेद कहे गये हैं।

प्रश्न—यह तो हमने मान लिया कि परिस्थूल निमित्तों के विभिन्न होने से ज्ञान के पाँच भेद हैं, परन्तु अब पूछना यह है कि ज्ञान के ये जो आभिनिबोधिक आदि भेद कहे गये हैं ये आत्मरूप[3] ही हैं अथवा—अनात्मरूप[4] हैं?

उत्तर तुम्हें इस बात के पूछने से क्या प्रयोजन है?

प्रश्न—दोनों पक्षों में दोष दीखता है, इसलिये हम उक्त बात को पूछते हैं, देखिये! यदि उनको आत्मरूप माना जावे तो जिसका आवरण क्षीण हो गया है उस (केवली) में भी आभिनिबोधिक आदि ज्ञान होने चाहियें तथा उनके होने पर केवली असर्वज्ञ कहा जा सकता है और यदि वे (आभिनि बोधिक आदि भेद) अनात्मरूप हैं तो उन्हें पारमार्थिक[5] नहीं कह सकते हैं और इनके पारमार्थिक न होने से इनके निमित्त भी पारमार्थिक नहीं हो सकते हैं।

१—मोटे, बड़े। २—लक्षणों में भेद आदि का वर्णन आगे किया जावेगा। ३—आत्मा के स्वरूप वाले। ४—आत्मा से भिन्नरूप वाले। ५—वास्तविक, सच्चे।

(उत्तर)—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हें वस्तु के तत्त्व का परिज्ञान नहीं है, देखो ! सब मेघ पटल[1] से मुक्त[2] शरद ऋतु के सूर्य के समान सब ओर से सब वस्तुओं के प्रकाशन करने रूप एक स्वभाव वाला जीव है, उसका वही स्वभाव केवल ज्ञान कहलाता है, वह यद्यपि केवल ज्ञान के आवरणरूप[3] सर्वघाती से ढक जाता है तोभी उसका अनन्ततम भाग नित्य उघड़ा ही रहता है यदि कदाचित् वह भाग भी ढक जावे तो जीव अजीव रूप बन जावे इसलिए मेघपटल से ढके हुए सूर्य के समान केवल ज्ञान के आच्छादक[4] से ढके हुए उस आत्मा का जो मन्द प्रकाश है वह मध्य में स्थिति मतिज्ञान आदि के आवरण[5] के क्षयोपशम के भेद से अनेक प्रकार का होता है जैसे कि मेघ पटल से ढके हुए सूर्य का मन्द प्रकाश बीच में स्थित चटाई और दीवार आदि आवरण के छिद्रों में से निकल कर अनेक प्रकार का होता है। वह अनेक प्रकारता भी क्षयोपशम के अनुसार होती है इसलिए अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार उसके नाम भी अलग अलग हो जाते हैं—देखो! मतिज्ञान के आच्छादक[6] कर्म के क्षयोपशम से जो मन्द प्रकाश उत्पन्न होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं, श्रुतज्ञान के आच्छादक कर्म के क्षयोपशम से जो मन्द प्रकाश होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं इसी प्रकार से शेष ज्ञानों के भी विषय में जान लेना चाहिये, इसलिये ज्ञान के जो आभिनिबोधिक आदि भेद हैं वे आत्मस्वभावभूत हैं तथा वे शास्त्र में कहे हुए परिस्थूल[7] निमित्तों के भिन्न भिन्न होने से पाँच माने जाते हैं, उन्हीं की अपेक्षा आवरण करने वाला कर्म भी पाँच प्रकार का कहा गया है, इस प्रकार

१—बादलों की घटा। २—छूटे हुए, न दबे हुए। ३—ढकनारूप। ४—ढांकने वाले सर्व घाती कर्म। ५—ढकने वाले कर्म। ६—ढँकने वाले। ७—मोटे, बड़े।

से आभिनिबोधिक आदि ज्ञानों के आत्मस्वभाव भूत होने पर भी वे क्षीणावरण[1] (केवली) के नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये (आभिनिबोधिक आदि ज्ञान) तो मति ज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशमरूप उपाधि से होते हैं जैसे कि मेघपटल से ढके हुए सूर्य के मन्द प्रकाश के भेद चटाई और दीवार आदि आवरण के भिन्न भिन्न छिद्ररूपी उपाधि से होते हैं, ऐसी दशा में तथा रूप क्षयोपशम के न होने से वे कैसे हो सकते हैं? देखो! सम्पूर्ण मेघपटल और चटाई व दीवार आदि आवरण[2] के हट जाने पर सूर्य के भी तो वे भिन्न भिन्न मन्द प्रकाश नहीं होते हैं, इसलिये जैसे जन्म आदि भाव जीव के आत्मभूत हैं तो भी कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न होने के कारण उस उपाधि के न रहने से वे नहीं होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान के आभिनिबोधिक आदि भेद भी यद्यपि आत्मभूत हैं तथापि उन्हें मति ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा है इसलिये उक्त क्षयोपशम के न होने से वे केवली के नहीं होते हैं इसलिये केवली के असर्वज्ञ होने का दोष नहीं आता है।

प्रश्न—आपकी कही हुई युक्ति से हमने ज्ञान के उक्त पाँचों भेदों को तो मान लिया परन्तु इनका जो यह क्रम बतलाया गया है इसमें भी कुछ प्रयोजन है अथवा यह क्रम यों ही कहा है?

उत्तर—इन भेदों का जो क्रम कहा गया है उसमें प्रयोजन है, उक्त क्रम यों ही नहीं कहा गया है?

प्रश्न—वह कौनसा प्रयोजन है?

उत्तर—देखो! मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को एकत्र कहना आवश्यक है क्योंकि इनके परस्पर में स्वामी, काल, कारण, विषय और परोक्षत्व, ये धर्म समान हैं, देखो जो मतिज्ञान का स्वामी है वही श्रुतज्ञान का

1—जिसका सर्व आवरण क्षीण (नष्ट) हो गया है। 2—आच्छादन।

स्वामी है, जितना स्थिति काल मतिज्ञान का है इतना ही स्थितिकाल श्रुतज्ञान का है, जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय से होता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय से होता है, जिस प्रकार मतिज्ञान आदेश से सर्व-द्रव्यादि विषयक[1] है इसी प्रकार से श्रुतज्ञान भी आदेश से सर्वद्रव्यादि विषयक है तथा जैसे मतिज्ञान परोक्ष है उसी प्रकार श्रुति ज्ञान भी परोक्ष[2] है, इस प्रकार से स्वामी आदि विषयों के समान होने से मति और श्रुत-ज्ञान को एकत्र कहा गया है तथा इन दोनों को जो अवधि आदि ज्ञानों से पहिले कहा गया है वह इसलिये कि इन दोनों के होने से ही अवधि आदि ज्ञान होते हैं।

प्रश्न—इन मति और श्रुतज्ञान को जो एकत्र कहा गया है तथा इनको अवधि आदि ज्ञानों से पहिले कहा गया है यह तो ठीक है परन्तु इन (मति और श्रुत) में भी पहिले मतिज्ञान और पीछे श्रुतज्ञान क्यों कहा गया है?

उत्तर—पहिले मतिज्ञान होकर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिये पहिले मतिज्ञान और पीछे श्रुतज्ञान कहा गया है-देखो! पहिले अव-ग्रह आदि[3] रूप मतिज्ञान का उदय होता है।

प्रश्न—अजी! ये मति और श्रुतज्ञान सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय में एक साथ ही उत्पन्न होते हैं यदि यह बात न मानी जावे तो मतिज्ञान के होने पर भी श्रुतज्ञान होना चाहिये, और यह बात अभीष्ट नहीं है तथा मिथ्यात्त्व की प्राप्ति के समय ये दोनों एक ही साथ अज्ञान रूप हो जाते हैं तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मतिज्ञान पहिले और श्रुतज्ञान पीछे होता है?

१—सर्व द्रव्यादि का ज्ञापक। २—इन दोनों के परोक्ष होने का वर्णन आगे किया जावेगा। ३—आदि शब्द से ईहा आदि को जानना चाहिये।

उत्तर—यह दोष नहीं आ सकता है क्योंकि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय में केवल लब्धि की अपेक्षा से मति और श्रुत का एक समय कहा गया है किन्तु उपयोग की अपेक्षा से एक समय नहीं कहा गया है, उपयोग तो क्रम से ही होता है क्योंकि जीव का ऐसा ही स्वभाव है तथा श्रुत को जो मतिपूर्वक[1] कहा गया है वह उपयोग की अपेक्षा से कहा गया है। देखो! जीव मति के उपयोग के द्वारा विचार न कर श्रुत ग्रन्थानुसारी ज्ञान को नहीं पा सकता है, इसलिये इस विषय में कोई दोष नहीं है।

तथा काल, विपर्यय, स्वामी और लाभ, इन धर्मों के समान होने से मति और श्रुत ज्ञान के अनन्तर अवधि ज्ञान कहा गया है इस विषय में यह जानना चाहिये कि प्रवाह की अपेक्षा से अप्रति पतित एक जीव के आधार की अपेक्षा से जितना मति और श्रुत ज्ञान का स्थिति समय है उतना ही अवधि ज्ञान का स्थिति समय है, मिथ्या दर्शन का उदय होने से जिस प्रकार मति और श्रुत ज्ञान विपर्ययरूप[2] बन जाते हैं उसी प्रकार अवधि ज्ञान भी विपर्ययरूप बन जाता है, मिथ्या दृष्टि जीव के वे मति, श्रुत और अवधि ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्ग ज्ञान हो जाते हैं, मति और श्रुत ज्ञान का जो स्वामी है वही अवधि ज्ञान का भी स्वामी है तथा विभङ्ग ज्ञान वाले देव आदि को सम्यग् दर्शन की प्राप्ति होने पर एक साथ ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का लाभ हो जाता है बस इन्हीं धर्मों के समान होने से मति और श्रुत ज्ञान के अनन्तर अवधि ज्ञान कहा गया है।

छद्मस्थ, विषय, भाव, तथा प्रत्यक्षत्व, इन धर्मों के समान होने से अवधि ज्ञान के पीछे मनः पर्याय ज्ञान कहा गया है, देखो! जिस प्रकार अवधि ज्ञान छद्मस्थ को होता है उसी प्रकार मनः पर्याय

१—मतिज्ञान है पूर्व में जिसके। २—अज्ञानरूप।

ज्ञान भी छद्मस्थ को होता है, जैसे अवधि ज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है उसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञान का भी विषय रूपी द्रव्य है जिस प्रकार अवधि ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में रहता है उसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव में रहता है तथा जिस प्रकार अवधि ज्ञान प्रत्यक्ष है उसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, बस इन्हीं धर्मों के समान होने से अवधि ज्ञान के अनन्तर मनः पर्याय ज्ञान कहा गया है।

मन पर्यायज्ञान के अनन्तर केवल ज्ञान इसलिये कहा गया है कि वह (केवल ज्ञान) सब ज्ञानों में उत्तम है मनः पर्याय ज्ञान के समान अप्रमत्त साधु को होता है, तथा सब के अन्त में इसका लाभ होता है, देखो! मति आदि जो सब ज्ञान हैं वे वस्तु का परिच्छेद[1] एक देश से करते हैं किन्तु केवल ज्ञान तो सर्व वस्तु समुदाय का परिच्छेद करता है, इसलिये वह सब ज्ञानों में उत्तम है तथा सर्वोत्तम होने से वह सब में शिरोमणि है अतः उसे अन्त में रक्खा गया है, जिस प्रकार मनः पर्याय ज्ञान अप्रमत्त[2] साधु के ही उदय होता है उसी प्रकार केवल ज्ञान भी अप्रमादभाव को प्राप्त हुए साधु को ही होता है, अन्य को नहीं होता है तथा जो पुरुष सब ज्ञानों को प्राप्त करने के योग्य होता है वह नियम से सब ज्ञानों के अन्त में केवल ज्ञान को प्राप्त होता है, बस इन्हीं कारणों से सब ज्ञानों के पीछे केवल ज्ञान कहा गया है तथा जिस प्रकार मनः पर्याय ज्ञान विपर्यय रूप नहीं होता है उसी प्रकार केवल ज्ञान भी विपर्यय रूप[3] नहीं होता है अतएव मनः पर्याय ज्ञान के अनन्तर केवल ज्ञान कहा गया है।

वह (पांचों प्रकार का ज्ञान संक्षेप से दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष, जो ज्ञान स्वरूप से सर्व पदार्थों में व्याप्त होता है उसे अक्ष कहते हैं, अथवा जो सर्व पदार्थों का यथायोग्य भोग वा पालन

१—ज्ञान, निश्चय। २—प्रमाद से रहित। ३—अज्ञानरूप।

करता है उसको अक्ष कहते हैं, अक्ष नाम जीव का है, उस अक्ष अर्थात् जीव को जो ज्ञान साक्षात् होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और मन की अपेक्षा को छोड़ कर जो ज्ञान आत्मा को साक्षात् होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और वह अवधि ज्ञान आदि रूप तीन प्रकार का है, तथा अक्ष अर्थात् आत्मा से द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन पर (पृथक्) हैं; क्योंकि ये पुद्गलमय[1] हैं, उनके द्वारा जो ज्ञान आत्मा को होता है उसे परोक्ष कहते हैं अथवा जिस ज्ञान में पर अर्थात् इन्द्रिय आदि के साथ विषय विषयिभावरूप सम्बन्ध होता है किन्तु साक्षात् आत्मा को नहीं होता है उसे परोक्ष कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनरूप निमित से होता है वह परोक्ष कहलाता है ।

प्रश्न—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन रूप निमित्ति से होता है उसे परोक्ष क्यों कहते हैं ?

उत्तर—वह पराधीन है इसलिये उसे परोक्ष कहते हैं, देखो पुद्गलमय होने के कारण द्रव्येन्द्रिय और मन आत्मा से पृथक् हैं इसलिये उनका आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष कहा जाता है-जैसे कि धूम को देख कर अग्नि का ज्ञान परोक्ष[2] है ।

प्रश्न—कोषों में अक्ष नाम इन्द्रिय[3] का है इसलिये अक्षों अर्थात् इन्द्रियों को जो साक्षात उपलब्धि[4] होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं-संसार में भी साक्षात् इन्द्रियों को मान कर जो घट आदि का ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं ।

१—पुद्गलरूप । २—धूम को देख कर पर्वत में अग्नि के होने का जो ज्ञान है वह परोक्ष है । ३—अक्षमिन्द्रिय "श्रोतो हृषीकंकरणं स्मृतम्" यह कोष का वाक्य है । ४—ज्ञान ।

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को ज्ञान हो ही नहीं सकता है, क्योंकि वे पुद्गलमय होने से अचेतन (जड़) हैं, अचेतनों को ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि पुद्गल काठिन्य रूप और अबोध रूप होने से चैतन्य के धर्मी नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न--आप कहते हैं कि इन्द्रियाँ अचेतन हैं इसलिये उन्हें ज्ञान नहीं हो सकता है-यह बात ठीक नहीं मालूम होती है-क्योंकि इन्द्रियों को साक्षात् ज्ञान होता हुआ दीख पड़ता है, देखिये नेत्र इन्द्रिय रूप का ज्ञान करती है, कर्ण इन्द्रिय शब्द का ज्ञान करती-है, नासिका इन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करती है इत्यादि, फिर आप कैसे कहते हैं कि इन्द्रियों को ज्ञान नहीं होता है ?

उत्तर—इन्द्रियों को जो तुम ज्ञान का होना मानते हो, यह तुम्हारी अज्ञानता[1] है-देखो ! शरीर और इन्द्रियों के साथ में घनिष्ठ सम्बन्ध के द्वारा आत्मा सम्बद्ध[2] हो रहा है। इसलिये मूर्ख लोग यह भी नहीं जान सकते हैं कि यह आत्मा है और ये इन्द्रियां हैं, इसलिये वे बड़ी भूल करते हैं, वास्तव में वस्तु का ज्ञान आत्मा को ही होता है किन्तु इन्द्रियों को ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न—इस बात का निश्चय कैसे हो सके ?

उत्तर—देखो ! इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी इन्द्रियों से ग्रहण किये हुए पदार्थ का स्मरण होता है, देखो ! किसी मनुष्य ने पहिले चक्षु के द्वारा किसी पदार्थ को देखा, फिर कालान्तर में दैवयोग से चक्षु के नष्ट हो जाने पर भी उस मनुष्य को वह (देखा हुआ पदार्थ) याद रहता है, यदि चक्षु को ज्ञान होना माना जावे तो उसके नष्ट हो जाने पर उस देखे हुए पदार्थ का स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे मन्तव्य के अनुसार उस पदार्थ का ज्ञान आत्मा को तो हुआ नहीं है

१—मूर्खता। २—सम्बन्ध युक्त।

किन्तु चक्षु को हुआ है, क्योंकि तुम इन्द्रिय को ज्ञान होना मानते हो तथा अन्य के जाने हुए पदार्थ का दूसरे को स्मरण नहीं हो सकता है परन्तु चक्षु के चले जाने पर भी उस पदार्थ का स्मरण तो होता ही है इसलिये मान लेना चाहिये कि आत्मा को ही ज्ञान होता है किन्तु इन्द्रियों को ज्ञान नहीं होता है, किञ्च चक्षु का नाश भले ही न हो तथापि यदि ज्ञान करने वाली आँख है तो आत्मा को स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि दूसरे के जाने हुए पदार्थ का दूसरे को स्मरण नहीं हो सकता है, परन्तु स्मरण आत्मा को होता[1] है किन्तु चक्षु को स्मरण नहीं हुआ करता है, इसलिये यह मानना चाहिये कि ज्ञान करने वाला आत्मा ही है किन्तु इन्द्रियाँ ज्ञान करने वाली नहीं हैं।

प्रश्न—हम यह नहीं कहते हैं कि इन्द्रियों को ज्ञान होता है किन्तु हमारा तो कहना यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं तथा इन्द्रियों के व्यापार का व्यवधान होने पर भी आत्मा को साक्षात् ज्ञान नहीं होता है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान कराने में इन्द्रियाँ कारण हैं इसलिये उनका व्यवधान नहीं हो सकता है, देखो! हाथ से भोजन करता हुआ देवदत्त हाथ के व्यापार का व्यवधान होने से साक्षात्भोक्ता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तुमको अच्छे प्रकार से वस्तु के तत्त्व का ज्ञान नहीं है, देखो! जब आत्मा चक्षु आदि का आश्रय लेकर पदार्थ को जानता है तब उसको अवश्य चक्षु आदि के सद्‌गुणत्व[2] की जरूरत होती है, देखो! जब चक्षु इन्द्रिय

१—"मैंने वहाँ अमुक पदार्थ देखा था" इस प्रकार स्मरण होता है।
२—सद्‌गुणयुक्त होने (विकार रहित होने)।

निर्विकार[1] होती है तब आत्मा पदार्थ को ठीक ठीक जान लेता है किन्तु जब चक्षु में किसी कारण से कुछ खराबी होती है तब वह या तो विपरीत[2] जानता है अथवा सन्देहयुक्त जानता है इसलिये ऐसी दशा में पदार्थ ज्ञान के विषय में आत्मा अवश्य पराधीन[3] है, देखो ! जैसे कोई राजा अपने द्वारपाल के दिखलाये हुए परराज्य के पुरुष को देख करके भी अपने द्वारपाल के कथन से ही उसे भला या बुरा मानता है किन्तु साक्षात् नहीं मानता है, इसी प्रकार आत्मा भी चक्षु आदि के दिखलाए हुए पदार्थ को चक्षु आदि के विश्वास से ही उसे भला या बुरा जानता है, देखो ! चक्षु आदि के द्वारा पदार्थ के देखने पर भी यदि किसी कारण से सन्देह में पड़ जाता है तो वह चक्षु आदि के सद्गुणत्व[4] को ही समझ कर पदार्थ का निश्चय करता है-कि मेरी आँख में तो किसी कारण से कोई भी खराबी नहीं है इसलिये मेरा देखा हुआ पदार्थ ठीक है, "यह मेरा द्वारपाल असत्यवादी[5] नहीं है, क्योंकि कभी भी इसकी बात में फर्क नहीं देखा है" इस प्रकार अपने द्वारपाल के सद्गुणत्व को जान कर परराज्य के पुरुष को ठीक समझना वास्तव में जिस प्रकार राजा का ज्ञान परोक्ष है उसी प्रकार चक्षु आदि के सद्गुणत्व का निश्चय कर आत्मा का जो वस्तु के यथार्थ[6] स्वरूप को जानना है वह वास्तव में परोक्ष है।

प्रश्न—अजी ! इन्द्रिय के सद्गुणत्व का निश्चय कर यह जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होना है यह उस पुरुष को होता है कि जिसको अभ्यास नहीं है, क्योंकि जिसको अभ्यास होता है वह तो अभ्यास के उत्कृष्ट[7] होने से इन्द्रिय के सद्गुणत्व की अपेक्षा न

१—विकार रहित। २—उलटा। ३—दूसरे के आधीन। ४—सद्गुणयुक्त होने। ५—मिथ्याभाषी। ६—सत्य, ठीक। ७—अधिक।

करके ही वस्तु को साक्षात् जान लेता है तो फिर उस पुरुष का इन्द्रियाश्रित[1] ज्ञान प्रत्यक्ष क्यों नहीं है ?

उत्तर—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष को अभ्यास होता है उसको भी साक्षात् ज्ञान नहीं होता है किन्तु उसको भी इन्द्रिय के ही द्वारा ज्ञान होता है, तथा उसे भी इन्द्रिय के सद्-गुणत्त्व की अपेक्षा होती है, हाँ इतनी बात अवश्य है कि वह पुरुष अभ्यास के अधिक होने से शीघ्र ही इन्द्रिय के सद्गुणत्त्व का निश्चय कर लेता है. तथा पूर्व धारण की हुई वस्तु का झट ही निश्चय कर लेता है, इसलिये काल के सूक्ष्म होने से मालूम नहीं पड़ता है; किञ्च—इस बात को इसी प्रकार से मानना चाहिये, क्योंकि अवाय[2] ज्ञान ईहा के ही साथ में होता है और ईहा का स्वरूप विचार है, तथा विचार इन्द्रिय के सद्गुणत्त्व से उत्पन्न वस्तु धर्म के आधीन है, यदि ऐसा न माना जावे तो दोनों में से एक विचार के न होने पर अवाय ज्ञान सम्यग् ज्ञान[3] नहीं हो सकता है-क्योंकि इन्द्रिय का अथवा वस्तु का सम्यक्[4] विचार न होने पर अवाय ज्ञान ही नहीं होता है, इसलिये अभ्यास रखने वाले पुरुष को भी इन्द्रिय के सद्गुणत्त्व का निश्चय करना पड़ता है।

तुमने जो यह बात कही थी कि—"हाथ से भोजन करता हुआ देवदत्त हाथ के व्यापार का व्यवधान होने से साक्षात् भोक्ता नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है" सो तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का विषय समान नहीं है, देखो! भोक्ता उसको कहते हैं जो कि भोजन क्रिया का अनुभव करता है तथा भोजन क्रिया का जो देवदत्त को अनुभव होता है उसमें हाथ का

१—इन्द्रियाधीन। २—इसका स्वरूप आगे कहा जावेगा। ३—यथार्थ ज्ञान। ४—ठीक रीति से।

व्यवधान हो नहीं सकता है, किन्तु वह तो साक्षात् ही होता है हाथ का व्यापार तो ग्रास[1] के पहुँचाने में ही होता है किन्तु जिस प्रकार ज्ञान क्रिया में इन्द्रिय का व्यापार होता है उस प्रकार से भोजन क्रिया के अनुभव में भी हाथ का व्यापार नहीं होता है कि जिससे व्यवधान माना जावे, इसलिये यही व्यवहार होता है कि देवदत्त साक्षात् भोक्ता है किन्तु वस्तुओं का जो ज्ञान है वह ऊपर कही हुई रीति से इन्द्रिय के सद्गुणत्व के निश्चय के अनुसार होता है इसलिये व्यवधान होने के कारण आत्मा साक्षात् जानने वाला नहीं हो सकता है।

प्रश्न—अजी! आपका जो यह सब कथन है वह सूत्र से विरुद्ध[2] है, क्योंकि सूत्र में तो अभी आगे इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष बतलाया जावेगा, सूत्र यह है कि—"पच्चक्खं दुविहं पन्नतं, तंजहा-इंद्रियपच्च क्खं नो इन्द्रियपच्चक्खंच[3]"।

उत्तर—यह तुम्हारा कथन ठीक है, क्योंकि सूत्र में जो इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, वह लोक व्यवहार की अपेक्षा से कहा गया है, परमार्थतया[4] नहीं कहा गया है, देखो! दूसरे के व्यव-से रहित जो इन्द्रियाश्रित ज्ञान होता है उसको संसार प्रत्यक्ष में कहते हैं, क्योंकि दूसरे लिंग[5] की अपेक्षा न होने से उक्त ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय का आश्रय लेकर होता है तथा इन्द्रिय का व्यापार होने पर भी दूसरे धूम आदि की अपेक्षा करके जो अग्नि आदि का ज्ञान होता है उसे संसार में परोक्ष कहते हैं, क्योंकि उसमें साक्षात् इन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है, किन्तु जो ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा न करके साक्षात् आत्मा को होता है वह परमार्थतया[6] प्रत्यक्ष है।

१—कवल। २—विपरीत। ३सूत्र का अर्थ यह है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष। ४—वास्तविक रूप से। ५—साधन, हेतु। ६—वास्तव रूप में।

प्रश्न--उक्त सूत्र में विशेषता का द्योतक[1] तो कोई पद दीख नहीं पड़ता है तो फिर यह कैसे माना जावे कि उक्त सूत्र में इन्द्रियाश्रित[2] ज्ञान को व्यवहार की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है किन्तु परमार्थ-तया उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा गया है।

उत्तर--उक्त सूत्र से अगला सूत्र देखने से ज्ञात होता है कि उक्त सूत्र में इन्द्रियाश्रित ज्ञान को व्यवहार की अपेक्षा प्रत्यक्ष कहा गया है किन्तु परमार्थतया प्रत्यक्ष नहीं कहा गया है, देखो! प्रत्यक्ष के भेदों के कहने के पश्चात् आचार्य ने यह सूत्र कहा है कि—'परोक्खं दुविहं पन्नतं, तंजहा आभि निबोहियनाणं सुयनाणं[3]" इत्यादि, इन में से आभिनिवोधिक ज्ञान अवग्रहादिरूप[4] है तथा अवग्रह आदि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आधीन हैं यह कहा जायगा, अब देखो! यदि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आश्रित ज्ञान परमार्थतया[5] प्रत्यक्ष होता तो अवग्रह आदि[6] को परोक्ष ज्ञान क्यों कहा जाता, इसलिये आगे चल कर इन्द्रियाश्रित ज्ञान को परोक्ष कहने से यह निश्चय होता है कि उक्त सूत्र में जो इन्द्रियाश्रित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है वह व्यवहार की अपेक्षा से कहा गया है किन्तु परमार्थतया नहीं कहा गया है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष ज्ञान कौनसा है?

उत्तर—प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा गया है इन्द्रिय प्रत्यक्ष[7] और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष।

१—बतलाने वाला। २—इन्द्रियाधीन। ३—सूत्र का अर्थ यह है कि—परोक्ष दो प्रकार का है—आभिनिवोधिक ज्ञान और श्रुत ज्ञान। ४—आदि शब्द से ईहा आदि को जानना चाहिए। ५—वास्तव में। ६—आदि शब्द से ईहा आदि को जानना चाहिए। ७—ऐश्वर्यवान् होने से इन्द्र नाम आत्मा का है उसका जो लिङ्ग (चिन्ह) है उसको इन्द्रिय कहते हैं, इन्द्रिय दो प्रकार की हैं, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उप करण, भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की हैं लब्धि और उपयोग।

प्रश्न—इन्द्रिय प्रत्यक्ष किस को कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का कहा गया है श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष[1], चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष।

प्रश्न—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, यह इन्द्रियों का क्रम है तथा यही क्रम ठीक भी है क्योंकि पूर्व पूर्व का लाभ होने पर उत्तरोत्तर[2] का लाभ होता है तो फिर यहाँ पर क्रम को छोड़ कर कथन क्यों किया गया है ?

उत्तर—पूर्वानुपूर्वी क्रम भी होता है तथा पश्चानुपूर्वी क्रम भी होता है, इस न्याय को दिखलाने के लिये व्यतिक्रम[3] से कथन किया गया है किञ्च-शेष इन्द्रियों की अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय पटु[4] है इसलिये श्रोत्र इन्द्रिय का जो प्रत्यक्ष है वह शेष इन्द्रियों के प्रत्यक्ष की अपेक्षा स्पष्ट होता है तथा स्पष्ट विषय के वर्णन को शिष्य सहज में समझ लेता है, इसलिये सहज में बोध होने के लिये उक्त क्रम कहा गया है।

प्रश्न—नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष किस को कहते हैं ?

उत्तर—नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का कहा गया है, अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मनः पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष तथा केवल ज्ञान प्रत्यक्ष।

प्रश्न—अवधिज्ञान प्रत्यक्ष किस को कहते हैं ?

उत्तर—अवधिज्ञान प्रत्यक्ष दो प्रकार का है भवप्रत्ययिक[5] और क्षायोपशमिक[6]।

१—श्रोत्रेन्द्रिय को मान कर जो प्रत्यक्ष होता है उसे श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के विषय में भी जान लेना चाहिए। २—पिछले पिछले। ३—विपरीत क्रम से। ४—चतुर। ५—नारकादि जन्म को भव कहते हैं—भव ही जिसका कारण है उसे भवप्रत्ययिक कहते हैं। ६—कर्मों के क्षय और उपशम से होने वाले को क्षायोपशमिक कहते हैं।

प्रश्न—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान किन जीवों को होता है ?

उत्तर—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवों[१] को और नैरयिकों को होता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक अवधिज्ञान किन जीवों को होता है ?

उत्तर--क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्य को तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यग् योनियों को होता है।

प्रश्न--क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर--अवधिज्ञान के आच्छादक[२] जो कर्म हैं उनमें से उदय में आये हुए कर्मों का क्षय[३] होने से तथा उदय में न आये हुए कर्मों का उपशम[४] होने से जो अवधिज्ञान होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं।

प्रश्न--अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में होता है तथा नारकादि भव औदायिकभाव में होता है तो फिर देवादि का अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक क्यों कहलाता है ?

उत्तर—भवप्रत्ययिक जो अवधिज्ञान है वह भी वास्तव में क्षायोपशमिक ही है, वह क्षायोपशम केवल देव और नारक भवों में अवश्य ही होता है, जैसे कि पक्षियों को आकाश गमन की लब्धि होती है। इसलिये उसे भवप्रत्ययिक कहते हैं।

प्रश्न—अवधिज्ञान और किसको होता है ?

उत्तर--गुणवान्[५] अनगार[६] को भी अवधिज्ञान होता है।

१—अनुपम क्रीड़ा का अनुभव करने वालों को देव कहते हैं। २—ढाकने वाले। ३—नाश। ४—शान्तावस्था। ५—मूलगुण तथा उत्तर गुणों से युक्त। ६—जिसके अगार (गृह) नहीं है उसको अनगार कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिसने द्रव्य गृह और भाव गृह का त्याग कर दिया है उसे अनगार कहते हैं।

प्रश्न—अवधिज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अवधिज्ञान संक्षेप से छः प्रकार का है आनुगामिक[1] अनानुगामिक[2] वर्द्धमानक[3] हीयमानक[4] प्रतिपाति[5] और अप्रतिपाति[6]।

प्रश्न—आनुगामिक अवधिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर—आनुगामिक अवधि ज्ञान दो प्रकार का है-अन्तगत और मध्यगत।

प्रश्न—अन्तगत किसको कहते हैं ?

उत्तर—अन्तगत तीन प्रकार का कहा गया है—पुरतोऽन्तगत, मार्गतोऽन्तगत और पार्श्वतोऽन्तगत।

प्रश्न—पुरतोऽन्तगत किसको कहते हैं ?

उत्तर—जैसे कोई पुरुष उल्का[7] को, चटुला[8] को, अलात[9] को, मणि को, प्रदीप को अथवा ज्योति[10] को आगे करके प्रेरणा करता करता जावे, इसी प्रकार के अवधिज्ञान को पुरुतोऽन्तगत कहते[11] हैं।

प्रश्न—मार्गतोऽन्तगत किसको कहते हैं ?

उत्तर—जैसे कोई पुरुष उल्का को, चटुला को, अलात को, मणि को, प्रदीप को अथवा ज्योति को पृष्ठ भाग में करके अनुकर्षण करता करता गमन करे, इसी प्रकार के अवधि ज्ञान को मार्गतोऽन्तगत कहते[12] हैं।

१—जाते हुए पुरुष के पीछे जाने वाला। २—जाते हुए पुरुष के पीछे न जाने वाला। ३—प्रशस्त अध्यवसायों से बढ़ने वाला। ४—घटने वाला। ५—दीपक के समान एक दम बुझजाने वाला। ६—केवल ज्ञान के होने तक रहने वाला। ७—दीपिका। ८—अन्त भाग में प्रज्वलित तृणों की पूली। ९—उल्मुक (अग्रभाग में जलता हुआ काष्ठ)। १०—सिकोर आदि में रक्खी हुई प्रज्वलित अग्नि। ११—तात्पर्य यह है कि जिस अवधिज्ञान से आगे ही देखता है उसे पुरतोऽन्तगत कहते हैं। १२—तात्पर्य यह है कि जिस अवधिज्ञान से पृष्ठ भाग में ही देखता है उसे मार्गतोऽन्तगत कहते हैं।

प्रश्न — पार्श्वतोऽन्तगत किसको कहते हैं ?

उत्तर—जैसे कोई पुरुप उल्का को, चटुला को, अलात को मणि को, प्रदीप को अथवा ज्योति को पार्श्व भाग में करके परिकर्षण करता करता गमन करे, इसी प्रकार के अवधिज्ञान को पार्श्वतोऽन्तगत कहते[1] हैं।

प्रश्न — मध्यगत किसको कहते हैं ?

उत्तर —जैसे कोई पुरुप उल्का को, चटुला को अलात को, मणि को, प्रदीप को अथवा ज्योति को मस्तक पर रखकर उसको साधे हुए गमन करे, इसी प्रकार के अवधि ज्ञान को मध्यगत कहते हैं[2]।

प्रश्न—अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में क्या भेद है ?

उत्तर - पुरतोऽन्तगत अवधिज्ञान से अग्रभाग में ही संख्येय अथवा असंख्येय योजनों को जानता और देखता है। मार्गतोऽन्तगत अवधिज्ञान से पृष्ठ भाग में ही संख्येय अथवा असंख्येय योजनों को जानता और देखता है किन्तु मध्यगति अवधिज्ञान से तो सब तरफ़ से अच्छे प्रकार से संख्येय अथवा असंख्येय योजनों को जानता और देखता है।

प्रश्न—कौन सा अवधिज्ञान किन प्राणियों को होता है ?

उत्तर—देव, नारक और तीर्थ कृतों को अवश्य मध्यगत अवधिज्ञान होता है, तिर्यञ्चों को अन्तगत अवधिज्ञान होता है तथा मनुष्यों को क्षयोपशम के अनुसार दोनों होते हैं।

प्रश्न—कौन कौन से जीव अवधि ान से कितने योजनों तक देखते हैं ?

१—तात्पर्य यह है कि जिस अवधि ज्ञान से पार्श्वभाग में ही देखता है उसे पार्श्वतोऽन्तगत कहते हैं। २—तात्पर्य यह है कि जिस अवधिज्ञान से सब तरफ देखता है उसे मध्यगत कहते हैं।

उत्तर—इसका विस्तार श्री नन्दीसूत्र आदि ग्रन्थों में कहा है वहाँ देख लेना चाहिये।

प्रश्न—अनानुगामिक अवधिज्ञान किसको कहते हैं?

उत्तर—जैसे कोई पुरुष एक बड़े ज्योतिः स्थान को करके उसी ज्योतिः स्थान के पर्यन्त भागों में परिभ्रमण करता हुआ उसी ज्योतिःस्थान को देखता है, अन्यत्र जाने पर नहीं देखता है, इसी प्रकार से अनानुगामिक अवधिज्ञान जहाँ पर उत्पन्न होता है वहीं पर संख्येय अथवा असंख्येय, सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध योजनों को जानता[1] और देखता[2] है, अन्यत्र जाने पर नहीं देखता है। इसी को अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—वर्धमानक अवधिज्ञान किसको कहते हैं?

उत्तर—प्रशस्त अध्यवसाय स्थानों[3] में वर्तमान वर्धमान चारित्र वाले, विशुध्यमान तथा विशुद्ध चारित्र वाले पुरुष का अवधिज्ञान सब ओर से अच्छे प्रकार बढ़ता है, देखो! तीन समयों में आहार लेने वाले सूक्ष्म[4] पनक जीव की जो जघन्य अवगाहना[5] है उतनाही अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है, सर्व बहु अग्नि जीव[6] निरन्तर जितने क्षेत्र को सब दिशाओं में भर चुके हैं उतना ही अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र[7] है, देखो! अवधिज्ञानी क्षेत्र से अंगुल के असंख्येय भाग

१—विशेष रूप से ज्ञान को जानना कहते हैं। २—सामान्य रूप से ज्ञान को देखना कहते हैं। ३—सामान्यतया द्रव्य लेश्या से उपरञ्जित चित्त को अध्यवसाय स्थान कहते हैं। ४—सूक्ष्म नाम कर्मोदयवर्ती। ५—शरीर। ६—सूक्ष्म बादर रूप। ७—यह सामर्थ्यमात्र कहा गया है अर्थात् इतने क्षेत्र में यदि द्रव्य वस्तु होती है तो देखता है—लेकिन वह है नहीं क्योंकि अलोक में रूपी द्रव्य नहीं होते हैं तथा अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है।

मात्र को देखता है तो काल से आवलिका[1] के अतीत और अनागत असंख्येय भाग को ही देखता है तथा आवलिका के असंख्येय भाग को देखता हुआ क्षेत्र से अँगुल के असंख्येय भाग को देखता है, अँगुल के संख्येय भाग को देखता हुआ आवलिका के भी संख्येय भाग को देखता है अँगुल मात्र क्षेत्र को देखता हुआ काल से कुछ कम आवलिका को देखता[2] है, काल से आवलिका को देखता है तो क्षेत्र से अँगुल पृथक्त्व[3] को देखता है क्षेत्र से हाथ भर क्षेत्र को देखता हुआ काल से अन्तर्मुहूर्त को देखता है, काल से कुछ कम दिवस को देखता हुआ क्षेत्र से गव्यूत को देखता है, योजनमात्र क्षेत्र को देखता हुआ काल से दिवस पृथक्त्व को देखता है, कुछ कम पक्ष को देखता हुआ क्षेत्र से पचीस योजनों को देखता है, क्षेत्र से सकल भरत को देखता हुआ काल से अर्धमास को देखता है, क्षेत्र से जम्बूद्वीप को देखता हुआ काल से साधिक मास को देखता है, क्षेत्र से मनुष्य लोक को देखता हुआ काल से संवत्सर को देखता है, क्षेत्र से रुचक को देखता हुआ काल से वर्ष पृथक्त्व को देखता है, काल से संख्येय काल के देखने पर क्षेत्र से संख्येय द्वीप समुद्रों को देखता है, काल से असंख्येय काल के देखने पर क्षेत्र से द्वीप समुद्र भाज्य[4] होते हैं, अवधि विषयक काल की वृद्धि होने पर चारों (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की

१—आवलिका असंख्येय समय रूपा होती है। २—क्षेत्र और काल का देखना व्यवहार की अपेक्षा जानना चाहिये, साक्षात् नहीं, क्योंकि उन दोनों के अमूर्त होने से अवधिज्ञानी उनको साक्षात् नहीं देखता है क्योंकि अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है, तात्पर्य यह है कि क्षेत्र और काल में जो द्रव्य हैं तथा उनके जो पर्याय हैं उनको देखता है। ३—दो से लेकर नौ तक प्रथक्त्व को जानना चाहिये। ४—किसी के असंख्येय होते हैं, किसी के संख्येक होते हैं तथा किसी के एक देश होते हैं।

वृद्धि होती है, क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल भजनीय होता[1] है, द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल भजनीय ही होते[2] हैं; काल सूक्ष्म होता है उसकी अपेक्षा क्षेत्र सूक्ष्मतर होता है क्योंकि अंगुल श्रेणी मात्र क्षेत्र में असंख्येय अवसर्पिणियाँ होती हैं।

प्रश्न—हीयमानक अवधिज्ञान कौनसा है?

उत्तर—अप्रशस्त अध्यवसाय स्थानों में वर्तमान (अविरत-सम्यग् दृष्टि) वर्तमान चारित्र (देश विरतादि) संक्लिश्यमान (उत्तरोत्तर क्लेश को प्राप्त होते हुए) तथा संक्लिश्यमान चारित्र (देशविरतादि) का अवधिज्ञान सब ओर से भले प्रकार हीन हो जाता है, अर्थात पूर्वावस्था से घटता जाता है, इसको हीयमानक कहते हैं।

प्रश्न—प्रतिपाती अवधिज्ञान कौनसा है?

उत्तर—जो अवधिज्ञान जघन्य से अंगुल के असंख्येय भाग को अथवा संख्येय भाग को, अथवा बालाग्र को, अथवा बालाग्रपृथक्त्व को अथवा लिक्षा को, अथवा लिक्षा[3] पृथक्त्व को, अथवा यूका[4] को, अथवा यूकापृथक्त्व को, अथवा यव[5] को, अथवा यवपृथक्त्व को, अथवा अंगुल को, अथवा अंगुलपृथक्त्व को, अथवा पाद को, अथवा पादपृथक्त्व को, अथवा वितस्ति[6] को, अथवा वितस्तिपृथक्त्व को,

---

१—कभी बढ़ता है तथा कभी नहीं बढ़ता है क्योंकि क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म होता है, उसकी अपेक्षा काल स्थूल होता है इसलिये यदि क्षेत्र की वृद्धि बहुत होती है तब तो काल बढ़ता है, अन्य समय में नहीं बढ़ता है; द्रव्य और पर्याय तो नियम से बढ़ते हैं। २—कभी बढ़ते हैं, कभी नहीं बढ़ते हैं क्योंकि द्रव्य क्षेत्र से भी सूक्ष्म है, देखो एक भी आकाश प्रदेश में अनन्त स्कन्धों की अवगाहना होती है। ३—आठ बालाग्र की लिक्षा होती है। ४—आठ लिक्षाओं की यूका होती है। ५—आठ यूकाओं का यव होता है। ६—बालिस्त।

अथवा रत्नी को, अथवा रत्नीपृथक्त्व को, अथवा कुक्षि[1] को, अथवा कुक्षिपृथक्त्व को, अथवा धनुष्[2] को, अथवा धनुष्पृथक्त्व को, अथवा गव्यूत को अथवा गव्यूतपृथक्त्व को, अथवा योजन को, अथवा योजनपृथक्त्व को, अथवा योजनशत को, अथवा योजनशतपृथक्त्व को, अथवा योजन सहस्र को, अथवा योजन सहस्र पृथक्त्व को, अथवा योजन लक्ष को अथवा योजन लक्ष पृथक्त्व को, देख कर तथा उत्कर्ष से लोक को देख कर प्रतिपाती हो जाता[3] है उसको पतिपाती अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—अप्रतिपाति अवधिज्ञान कौनसा है?

उत्तर—जिस अवधिज्ञान से अलोक के एक भी आकाश प्रदेश को जानता और देखता[4] है तब से लेकर जो अवधिज्ञान केवल ज्ञान की प्राप्ति होने तक अप्रतिपाति रहता है, इसी को अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—अवधिज्ञान कितने प्रकार का है?

उत्तर—अवधिज्ञान संक्षेप से चार प्रकार का कहा गया है द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, उनमें से द्रव्य से अवधिज्ञानी, जघन्य से अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता और देखता[5] है तथा उत्कर्ष से सब रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है। क्षेत्र से अवधिज्ञानी जघन्य से अँगुल के असंख्येय भाग को जानता और देखता है तथा उत्कर्ष से अलोक में लोक प्रमाणमात्र[6] असंख्येय

१—दो हाथ की कुक्षि होती है। २—चार हाथ का धनुष् होता है।

३—दीपक के समान नष्ट होजाता है क्योंकि वह उसी प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ है। ४—यह भी सामर्थ्यमात्र का वर्णन किया गया है, क्योंकि अलोक में अवधि ज्ञान का द्रष्टव्य कुछ भी नहीं है। ५—वे द्रव्य तैजस भाषा प्रायोग्य वर्गणा के अपान्तरालवर्ती हैं। ६—चतुर्दश-रज्जु-स्वरूप।

खण्डों को जानता और देखता है, काल से अवधिज्ञानी जघन्य से आवलिका के असंख्येय भाग को जानता और देखता है तथा उत्कर्ष से असंख्येय उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों को तथा अतीत और अनागत काल को जानता और देखता है, तथा भाव से अवधिज्ञानी जघन्य से अनन्त भावों[1] को जानता और देखता है तथा उत्कर्ष से भी अनन्त भावों को जानता और देखता है, सर्व भावों के अनन्त भाग को जानता और देखता है यह अवधिज्ञान भव प्रत्यय से और गुण प्रत्यय से दो प्रकार का कहा गया है-इसके द्रव्य विषयक, क्षेत्र विषयक और काल विषयक बहुत से भेद होते हैं। नैरयिक देव और तीर्थङ्कर, ये अवधिज्ञान के अबाह्य होते[2] हैं तथा सब तरफ़ से देखते हैं, शेष[3] एक देश से देखते हैं।

दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान मनः पर्याय ज्ञान है, इसका शब्दार्थ प्रथम कह दिया गया है।

प्रश्न—मनः पर्याय ज्ञान क्या मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा अमनुष्यों के उत्पन्न होता है ?

उत्तर—मनः पर्याय ज्ञान मनुष्यों के उत्पन्न होता है किन्तु अमनुष्यों[4] के उत्पन्न नहीं होता[5] है।

प्रश्न—यदि मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या संमूर्च्छिम[6] मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा गर्भव्युत्क्रान्तिक[7] मनुष्यों के उत्पन्न होता है ?

१—पर्यायों। २—तात्पर्य यह है कि सब ओर से प्रकाशक अवधिज्ञान से उपलब्ध क्षेत्र के मध्यवर्ती सदैव होते हैं, अथवा यह जानना चाहिये कि इनको अवधिज्ञान नियम से होता है। ३—तिर्यञ्च और मनुष्य। ४—देवादिकों के। ५—क्योंकि अमनुष्यों के विशिष्ट चारित्र की प्रतिपत्ति का अभाव है। ६—वान्त आदि से उत्पन्न। ७—गर्भज।

उत्तर—सम्मूर्छिम मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता[1] है किन्तु गर्भ व्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यदि गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या कर्म भूमि[2] में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा अकर्म भूमि[3] में उत्पन्न गर्भ व्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा अन्तर द्वीप[4] के गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है।

उत्तर—कर्म भूमि में उत्पन्न हुए गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, किन्तु अकर्म भूमि में उत्पन्न हुए गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता है तथा अन्तर द्वीप के गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के भी उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—यदि कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा असंख्येय वर्षों की आयुवाले[5] कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है?

उत्तर—संख्येय वर्षों की आयु वाले[6] कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भ-व्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है किन्तु असंख्येय वर्षों की आयु

१—क्योंकि उनके विशिष्ट चारित्र की प्रतिपत्ति नहीं होती है। २—कर्म प्रधान भूमि कर्म भूमि है और वे भरतपंचक, ऐरवतपंचक और महा विदेह पंचक रूप पन्द्रह हैं। ३—कृष्यादिकर्म रहित भूमियाँ अकर्म भूमि हैं और वे तीस हैं। ४—लवण समुद्र के मध्य में जो द्वीप हैं वे अन्तर द्वीप हैं और वे एकोरुकादि छप्पन हैं। ५—पूर्व कोट्यादि जीवी। ६—पल्योपमादि जीवी।

वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—यदि संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, अथवा पर्याप्तियों से रहित संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है ?

उत्तर—पर्याप्तियों[1] से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है किन्तु पर्याप्तियों से रहित[2] संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता[3] है।

प्रश्न—यदि पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, तो क्या सम्यग् दृष्टि[4], पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है अथवा मिथ्या दृष्टि[5] पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, अथवा सम्यग्

१—आहारादि के पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन की कारण आत्मा की जो शक्ति है उसको पर्याप्ति कहते हैं और वह छः प्रकार की है। २—अपने योग्य पर्याप्तियों की परिसमाप्ति से विकल । ३—क्योंकि उनके विशिष्ट चारित्र की प्रतिपत्ति नहीं होती है। ४—सम्यक् (अविपरीत) दृष्टि (जिन प्रणीत वस्तु की प्रतिपत्ति) जिनके है उनको सम्यग् दृष्टि कहते हैं। ५—सम्यग् दृष्टियों से विपरीत।

मिथ्यादृष्टि[1] पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है ?

उत्तर—सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, किन्तु मिथ्या दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के नहीं उत्पन्न होता है तथा सम्यग् मिथ्या दृष्टि पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के भी उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—यदि सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या संयत[2] सम्यग् दृष्टि पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है। अथवा असंयत[3] सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है। अथवा सयता संयत[4] सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है ?

उत्तर—संयत, सम्यग्, दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है, किन्तु असंयत, सम्यग् दृष्टि पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न

१—जिनको न तो सम्यक् श्रद्धा होती है और न सर्वथा विरोध होता है उनको सम्यग् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। २—सर्वसावद्य योगों से विरत। ३—अविरत सम्यग् दृष्टि। ४—देश विरति वाले।

नहीं होता है, तथा संयता संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्मभूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के भी उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—यदि संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या प्रमत्त[1], संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है। अथवा अप्रमत्त[2], संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है?

उत्तर—अप्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्मभूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है किन्तु प्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—यदि अप्रमत्त, संयत, सम्यग्दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है तो क्या ऋद्धियों को प्राप्त हुए अप्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्मभूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है। अथवा ऋद्धियों को न प्राप्त हुए, अप्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है?

१—मोहनीयादि कर्म्मों के उदय के प्रभाव से जो संयम योगों से शिथिल हैं उनको प्रमत्त कहते हैं। २—प्रमत्तों से भिन्न।

उत्तर— ऋद्धियों[1] को प्राप्त हुए, अप्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले, कर्म भूमि में उत्पन्न गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न होता है किन्तु ऋद्धियों को न प्राप्त हुए[2] अप्रमत्त, संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तियों से युक्त, संख्येय वर्षों की आयु वाले कर्म भूमि में उत्पन्न, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों के उत्पन्न नहीं होता है।

यह मनः पर्याय ज्ञान ऋजुमति[3] और विपुलमति[4] रूप से दो प्रकार का उत्पन्न होता है तथा वह मनःपर्याय ज्ञान संक्षेप से चार प्रकार का है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, उनमें से द्रव्य से ऋजुमति अनन्त अनन्त प्रादेशिक[5] स्कन्धों को जानता और देखता है तथा उन्हीं को विपुलमति, कुछ अधिकतर, विपुलतर[6], विशुद्धतर[7] तथा वितिमिरतर[8] जानता और देखता है, क्षेत्र से ऋजुमति, जघन्य से अंगुल के असंख्येय भाग को तथा उत्कर्ष से, अधोलोक में रत्नप्रभा पृथिवी के ऊपरी और नीचले क्षुल्लक प्रपरों को जानता और देखता है। ऊर्ध्व भाग में ज्योतिपचक्र के ऊपरी तल को जानता और देखता है, तिर्यग् भाग में मनुष्य क्षेत्र के अन्त को जानता और देखता है अर्थात् ढाई द्वीप समुद्रों में, पन्द्रह कर्म भूमियों में, तीस अकर्म भूमियों में, छप्पन अन्तर द्वीपों में, पर्याप्त[9] संज्ञी पञ्चेन्द्रियों के मनोगत भावों को जानता और देखता है, इन्हीं को विपुल मति ढाई अङ्गुलों से अधिकतर विपुल तर[10] विशुद्धतर[11] वितिमिरतर क्षेत्रको जानता और देखता है,

---

१—आमर्षौषध्यादिरूप। २—ऋद्धियों को जो प्राप्त नहीं हुए हैं। ३—सामान्यग्राहिणीमति। ४—विशेष ग्राहिणी मति। ५—अनन्त प्रमाण स्वरूप। ६—प्रभूतत। ७—रनिर्मलतर। ८—सर्वथा भ्रम से रहित। ९—पर्याप्तियों से युक्त। १०—विस्तीर्णतर। ११—विशुद्धतर आदि का अर्थ प्रथम कहा जा चुका है।

काल से ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असंख्येय भागों को अथवा अतीत[1] और अनागत[2] काल को जानता और देखता है और उसी को विपुल मति अधिकतर, विपुलतर विशुद्धतर और वितिमिरतर जानता और देखता है तथा भाव से ऋजुमति अनन्त भावों को जानता और देखता है सब भावों के अनन्त भाग को जानता और देखता है, तथा उसी को विपुल मति अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर और वितिमिरतर जानता और देखता है, यह मनः पर्याय ज्ञान मनुष्यों के मन से सोचे हुए पदार्थ को प्रकट कर देता है, यह मनुष्य क्षेत्र में ही निबद्ध[3] है, गुणों[4] के द्वारा उत्पन्न होता है तथा चारित्रवान्[5] के उत्पन्न होता है।

तीसरा प्रत्यक्ष ज्ञान केवल ज्ञान है और वह दो प्रकार का है भवस्थ केवल ज्ञान[6] और सिद्ध[7] केवल ज्ञान।

प्रश्न—भवस्थ केवल ज्ञान किसको कहते हैं?

उत्तर—भवस्थ केवल ज्ञान के दो भेद हैं-सयोगि भवस्थ केवल ज्ञान[8] और अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान[9]।

प्रश्न--संयोगि भवस्थ केवल ज्ञान किसको कहते हैं?

उत्तर—संयोगि भवस्थ केवल ज्ञान दो प्रकार का है। प्रथम[10] समय सयोगि भवस्थ केवल ज्ञान और अप्रथम[11] समय सयोगि भवस्थ

१—भूत। २—भविष्य। ३—अर्थात् मानुष क्षेत्र से बहिर्वर्ती प्राणियों के मनोद्रव्यों का बोध नहीं कराता है। ४—क्षान्ति आदि गुणों के। ५—अप्रमत्त संयत। ६—मनुष्य भव में स्थित पुरुष का केवल ज्ञान। ७—जिसने आठों प्रकार के कर्म को भस्म कर दिया है उसको सिद्ध कहते हैं। ८—योगों के सहित भवस्थ का केवल ज्ञान ९—योगों से रहित भवस्थ का केवल ज्ञान। १०—केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय को प्रथम समय जानना चाहिये। ११—केवलज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् दूसरे आदि समय।

केवल ज्ञान, अथवा चरमसमय[1] संयोगि भवस्थ केवल ज्ञान और अचरम समय संयोगि भवस्थ केवल ज्ञान।

प्रश्न—अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान कौनसा है ?

उत्तर—अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान के दो भेद हैं—प्रथम समय[2] अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान और अप्रथम[3] समय अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान अथवा चरमसमय अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान और अचरससमय[4] अयोगि भवस्थ केवल ज्ञान।

प्रश्न—सिद्ध केवल ज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर—सिद्ध केवल ज्ञान दो प्रकार का है—अनन्तर सिद्ध[5] केवल ज्ञान और परम्पर सिद्ध[6] केवल ज्ञान।

प्रश्न—अनन्तर सिद्ध केवल ज्ञान किस को कहते हैं ?

उत्तर—अनन्तर सिद्ध केवल ज्ञान पन्द्रह प्रकार का है—तीर्थ सिद्ध[7], अतीर्थ सिद्ध[8], तीर्थ कर सिद्ध[9], अतीर्थ कर सिद्ध[10] स्वयम् वुद्ध सिद्ध[11], प्रत्येक वुद्ध सिद्ध[12], वुद्धबोधित[13] सिद्ध, स्त्रीलिङ्ग[14] सिद्ध

१—सयोग्यवस्था का अन्तिम समय। २—सयोग्यवस्था के चरम समय से पूर्ववर्त्ती समय। ३—अयोगित्व की उत्पत्ति का समय। ४—प्रथम समय से भिन्न सर्व समय, यह वहाँ तक जानना चाहिये जहाँ तक शैलेशी अवस्था का चरम समय है। ५—जिस सिद्ध के अन्तर (समय का व्यवधान) नहीं है उसको अनन्तर सिद्ध कहते हैं अर्थात् सिद्धत्व के प्रथम समय में वर्त्तमान को अनन्तर सिद्ध जानना चाहिये। ६—परम्परा के द्वारा सिद्धों को परम्पर सिद्ध कहते हैं। ७—तीर्थ (प्रवचन) के उत्पन्न होने पर सिद्ध। ८—तीर्थ के व्यवच्छेद में सिद्ध। ९—तीर्थ कर रूप में सिद्ध। १०—सामान्य केवली। ११—स्वयमबुद्ध रूप में सिद्ध। १२—प्रत्येक बुद्ध रूप में सिद्ध। १३—आचार्योंसे बोधित सिद्ध। १४—स्त्री लिङ्ग में सिद्ध।

पुरुष लिङ्ग[1] सिद्ध, नपुंसक लिङ्ग[2] सिद्ध, स्वलिङ्ग[3] सिद्ध, अन्य-लिङ्ग[4] सिद्ध, गृहि लिङ्ग[5] सिद्ध, एक[6] सिद्ध, और अनेक सिद्ध[7]।

प्रश्न—परम्पर सिद्ध केवल ज्ञान कौनसा है ?

उत्तर—परस्पर सिद्ध केवल ज्ञान अनेक प्रकार का है-अप्रथम समय सिद्ध, द्विसमय सिद्ध, त्रिसमय सिद्ध, चतुः समय सिद्ध से लेकर दस समय सिद्ध तक, संख्येय समय सिद्ध, असंख्येय समय सिद्ध तथा अनन्त समय सिद्ध। वह (केवल ज्ञान) संक्षेप से चार प्रकार का है-द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, उनमें से द्रव्य से केवल ज्ञानी सब द्रव्यों को[8] जानता और देखता है, क्षेत्र से केवल ज्ञानी सर्व क्षेत्र को[9] जानता और देखता है, काल से केवल ज्ञानी सब काल को[10] जानता और देखता है तथा भाव से केवल ज्ञानी सब भावों को[11] जानता और देखता है। इस प्रकार यह केवल ज्ञान सर्व द्रव्यों[12] के परिणामों[13] के भाव[14] के विज्ञान का कारण है, अनन्त है[15] शास्वत[16] है, अप्रतिपाति[17] है, तथा एक प्रकार का[18] है।

१—पुरुष लिङ्ग में सिद्ध। २—नपुंसक लिङ्ग में सिद्ध। ३—अपने लिङ्ग में सिद्ध। ४—अन्य के लिङ्ग में सिद्ध। ५—गृहस्थ लिङ्ग में सिद्ध। ६—एक एक रूप में सिद्ध। ७—अनेक रूप में सिद्ध। ८—धर्मास्तिकाय आदि को। ९—लोका लोकरूप। १०—अतीत, अनागत और वर्त्तमान को। ११—गति, कषाय अगुरु, लघु आदि को। १२—जीवादि स्वरूप। १३—उत्पाद आदि। १४—सत्ता। १५—क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं। १६—सदा उपयोग से युक्त। १७—सदा अवस्थायी। १८—क्योंकि उसके आवरण कर्म का क्षय एक रूप है।

केवल ज्ञान के द्वारा पदार्थों को[1] जान कर[2] उनमें से प्रज्ञापना करने योग्य जो पदार्थ हैं[3], उन्हीं का कथन तीर्थङ्कर करते[4] हैं और वह उनका वाग्योग होता[5] है-शेष श्रुत होता है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान के तीनों भेद कह दिए गए।

प्रश्न—अब कृपा कर परोक्ष ज्ञान का कथन करें।

उत्तर--परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है-आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान।

जहाँ[6] आभिनिबोधिक ज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान होता है तथा जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान होता है, ये दोनों ज्ञान यद्यपि परस्पर में अनुगत[7] है तथापि आचार्य लोग इनमें भिन्नता बतलाते हैं और वह इस प्रकार कि जिसके द्वारा अभिनिबोध होता है

१—अभिलाप्य और अनभिलाप्य, धर्मास्तिकाय आदि को। २—निश्चय कर। ३—अर्थात् जो पदार्थ अभिलाप्य हैं। ४—तात्पर्य यह है कि प्रज्ञापना के योग्य अभिलाप्य पदार्थों का कथन करते हैं किन्तु सब का कथन नहीं करते हैं, क्योंकि आयु तो परिमित होती है और पदार्थ अनन्त हैं अतः उनका कथन नहीं किया जा सकता है। ५—तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान से जाने हुए पदार्थों का अभिधायक प्रोच्यमान जो शब्द राशि है वह भगवान् का वाग्योग ही होता है किन्तु श्रुत नहीं होता है क्योंकि श्रुत का कारण भाषापर्याप्ति आदि नाम कर्मोदय है तथा श्रुत क्षायोपशमिक भी है वह वाग्योग होता है किन्तु श्रुत नहीं होता है तथा शेष अर्थात् अप्रधान (द्रव्यश्रुत) कहलाता है, क्योंकि वह श्रोताओं के भावश्रुत का कारण है। ६—जिस पुरुष में। ७—प्रतिबद्ध।

उसको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते[1] हैं, तथा जिसको सुनता है उसको श्रुत ज्ञान कहते[2] हैं।

श्रुतज्ञान मति ज्ञानपूर्वक होता है, किन्तु मतिज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक नहीं होता है ।

अविशेषित जो मतिज्ञान[3] है वह मतिज्ञान भी होता है तथा मत्यज्ञान भी होता है तथा विशेषित[4] जो मतिज्ञान है वह सम्यग् दृष्टि का मतिज्ञान होता है[5] तथा मिथ्यादृष्टि का मत्यज्ञान होता[6] है इसी प्रकार से अविशेषित[7] जो श्रुत ज्ञान है वह श्रुत ज्ञान भी होता है तथा विशेषित जो श्रुत ज्ञान है वह सम्यग् दृष्टि का श्रुत ज्ञान होता है तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुताज्ञान होता है।

प्रश्न—आभिनिबोधिक ज्ञान किसको कहते हैं ?

१—तात्पर्य यह है कि योग्य देश में व्यवस्थित नियत पदार्थ को इन्द्रिय और मन के द्वारा आत्मा जिस परिणामविशेष से जानता है उसी परिणाम विशेष को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं । २—तात्पर्य यह है कि वाच्य वाचक भाव के साथ श्रवण विषयक शब्द के साथ में संस्पृष्ट पदार्थ को आत्मा जिस परिणाम विशेष से सुनता है (जानता है) उसी परिणामविशेष को श्रुतज्ञान कहते हैं । ३—स्वामी के विशेष परिग्रह से रहित । ४—स्वामी से विशेष्यमाण । ५—क्योंकि वह यथाव्यवस्थित पदार्थ का ज्ञान कराता है। ६—मिथ्यादृष्टि पुरुष एकान्तावलम्बी होता है इसलिये उसको यथावस्थित पदार्थ का बोध नहीं होता है। ७—पूर्व के समान जान लेना चाहिये ।

उत्तर--अभिनिबोधिक ज्ञान दो प्रकार का है-श्रुतनिश्रित[1] और अश्रुत[2] निश्रित।

प्रश्न--अश्रुत निश्रित कौन सा है?

उत्तर--अश्रुति निश्रित चार प्रकार का है-औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी, इस प्रकार से बुद्धि चार प्रकार की कही गई है, पाँचवीं नहीं दीख पड़ती है।

प्रश्न--औत्पत्तिकी बुद्धि किसको कहते हैं?

उत्तर--जिस पदार्थ को पहिले नहीं देखा है, न सुना है और न जाना है ऐसे भी पदार्थ के तत्त्व को जो बुद्धि तत्क्षण[3] ग्रहण कर लेती है तथा जिसका फल व्याहत[4] नहीं होता है ऐसी बुद्धि को औत्पत्तिकी कहते[5] हैं।

प्रश्न--वैनयिकी बुद्धि किसको कहते हैं?

उत्तर--अति बड़े[6] कार्य के निस्तरण[7] में समर्थ, त्रिवर्ग[8] के प्रतिपादक[9] सूत्र और उसके अर्थ को सम्यक्तया[10] जानने

१—शास्त्राभ्यास से विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुष को उत्पत्ति के समय में शास्त्र के अर्थ के विचार के विना ही जो मति ज्ञान उत्पन्न होता है उसको श्रुतनिश्रित कहते हैं। २—सर्वथा शास्त्राभ्यास से रहित पुरुष को क्षयोपशम विशेष से यों हीं यथार्थ वस्तु का ज्ञापक जो मतिज्ञान होता है उसको अश्रुतनिश्रित कहते हैं। ३—उसी समय। ४—विनष्ट। ५—इस बुद्धि की उदाहरण भूत कथायें ग्रन्थान्तरों में देख लेना चाहिये। ६—अति दुस्तर। ७—पार होने में। ८—धर्म, अर्थ और काम। ९—कथन करने वाले। १०—अच्छे प्रकार से।

वाली, दोनों लोकों में फल देने वाली[1] तथा विनय से उत्पन्न होने वाली जो बुद्धि है उसको वैनयिकी[2] कहते हैं।

प्रश्न—कर्मजा बुद्धि किसको कहते[3] हैं।

उत्तर—उपयोग[4] के द्वारा सार[5] को देखने वाली, कर्म के प्रसङ्ग[6] में उत्कृष्ट विचार करने वाली धन्यवादरूपी[7] फल वाली, तथा कर्म से उत्पन्न होने वाली बुद्धि को कर्मजा कहते हैं।

प्रश्न—पारिणामिकी बुद्धि किसको कहते हैं?

उत्तर—अनुमान[8] हेतु[9] और दृष्टान्त के द्वारा विषय को साधने वाली अवस्था[10] के विपाक में पुष्ट होने वाली तथा हित[11] और निःश्रेय[12] सरूप फलवाली जो बुद्धि है उसको पारिणामकी कहते[13] हैं।

प्रश्न—श्रुत निश्रित आभिनिवोधिक ज्ञान किसको कहते हैं।

उत्तर—श्रुतनिश्रित आभिनिवोधिक ज्ञान चार प्रकार का है। अवग्रह[14] ईहा[15], अवाय[16] और धारणा[17]।

१—इस लोक में तथा परलोक में फल देने वाली। २—इस बुद्धि के भी उदाहरण रूप कथानक ग्रन्थान्तरों में देख लेना चाहिये। ३—किसी काम में मन की प्रवृत्ति। ४—परमार्थ (वास्तविक तत्व) ५—अभ्यास। ६—अच्छा किया, ठीक किया, इत्यादिरूप से की हुई विद्वानों की प्रशंसा। ७—इस बुद्धि के भी उदाहरणरूप कथानक ग्रन्थान्तरों में देख लेने चाहिये। ८—लिङ्ग से लिंगी का ज्ञान। ९—अनुमान का प्रतिपादक वचन। १०—आयु। ११—अभ्युदय। १२—मोक्ष। १३—इस बुद्धि के भी उदाहरण रूप कथानक ग्रन्थान्तरों में देख लेना चाहिये। १४—अनिर्देश्य सामान्य मात्र रूप पदार्थ का ग्रहण करना। १५—सद्भूत पदार्थ का पर्यालोचनरूप चेष्टा। १६—पदार्थ का निर्णयरूप अध्यवसाय। १७—निर्णीत पदार्थ का धारण करना।

प्रश्न—अवग्रह किसको कहते हैं ?

उत्तर—अवग्रह दो प्रकार का है। अर्थावग्रह[1] और व्यञ्जनावग्रह[2]।

प्रश्न—व्यञ्जनावग्रह किसको कहते हैं।

उत्तर—व्यञ्जनावग्रह चार प्रकार का[3] है। श्रोत्रेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह[4] घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, जिह्वेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह और स्पर्शेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह।

प्रश्न—अर्थावग्रह किसको कहते हैं ?

१—अर्थ का जो अवग्रहण है उसको अर्थावग्रह कहते हैं, तात्पर्य यह है कि सकल रूपादि विशेषों की अपेक्षा से रहित अनिर्देश्य सामान्य मात्ररूप जो एक समय में होने वाला पदार्थ का ग्रहण है उसको अर्थावग्रह कहते हैं। २—व्यञ्जन (उपकरणेन्द्रिय श्रोत्रादि का तथा शब्दादि रूप में परिणत द्रव्यों का परस्पर में सम्बन्ध) से जो अवग्रहण (शब्दादिरूप अर्थ का अव्यक्तरूप परिच्छेद) है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं, अथवा व्यञ्जनों का अर्थात् उपकरणेन्द्रिय को प्राप्त हुये शब्दादि रूप तथा परिणत द्रव्यों का जो अवग्रहण है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं अथवा व्यञ्जन नाम उपकरणेन्द्रिय का है, उस व्यञ्जन अर्थात् उपकरणेन्द्रिय से स्वसम्बद्ध शब्दादि अर्थ का जो अवग्रहण (अव्यक्त परिच्छेद) है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। ३—नेत्र और मन के अप्राप्यकारी होने से उनका व्यञ्जनावग्रह नहीं कहा गया है। ४—श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जो व्यञ्जनावग्रह होता है उसको श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह कहते हैं, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के विषय में जान लेना चाहिये।

उत्तर—अर्थावग्रह छः प्रकार का कहा गया है—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह[1], चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रह, घ्राणेन्द्रियार्थावग्रह, जिह्वेन्द्रियार्थावग्रह, स्पर्शेन्द्रियार्थावग्रह तथा नो इन्द्रियार्थावग्रह[2]।

उस अवग्रह के एकार्थ वाले, नानाघोष वाले[3], तथा नानाव्यञ्जन वाले[4] पाँच नाम हैं-अवग्रहणता[5], उपधारणता[6], श्रवणता[7], अवलम्बनता[8] और मेधा[9]।

प्रश्न—ईहा किसको कहते हैं ?

१—व्यञ्जनावग्रह के उत्तर काल में श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा एक समय में होने वाला अनिर्देश्य सामान्य मात्र रूप जो अर्थावग्रहण है उसको श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह कहते हैं, इसी प्रकार से घ्राण, जिह्वा और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में जान लेना चाहिये, चक्षु और मन का तो व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है इसलिये उन दोनों का पहिले ही स्वरूप, द्रव्य, गुण और क्रिया के विकल्प से रहित अनिर्देश्य सामान्य मात्र रूप अर्थ का जो अवग्रहण है वही अर्थावग्रह जानना चाहिये। २—नो इन्द्रिय मन को कहते हैं, वह दो प्रकार का है-द्रव्य मन और भाव मन। ३—भिन्न २ उदात्तादि स्वर वाले। ४—नाना ककारादि व्यञ्जन वाले। ५—व्यञ्जनावग्रह के प्रथम समय में प्रविष्ट हुए शब्दादि के पुद्गलों के ग्रहण का परिणाम। ६—व्यञ्जनावग्रह के द्वितीयादि समयों में से प्रत्येक समय में अपूर्व २ शब्दादि के पुद्गलों के ग्रहण के साथ में पूर्व पूर्व समयों में गृहीत शब्दादि के पुद्गलों के धारण का परिणाम। ७—एक समय में होने वाला सामान्यार्थावग्रह रूप बोधपरिणाम ८—विशेष सामान्यार्थावग्रह। ९—प्रथम विशेष सामान्यार्थावग्रह के सिवाय पिछला सब ही विशेष सामान्यार्थावग्रह।

उत्तर--ईहा छः प्रकार की है-श्रोत्रेन्द्रियेहा[1] चक्षुरिन्द्रियेहा, घ्राणेन्द्रियेहा, जिह्वेन्द्रियेहा, स्पर्शनेन्द्रियेहा, तथा नो इन्द्रियेहा ।

इस ईहा के भी-एक अर्थ वाले नानाघोष वाले तथा नाना-व्यञ्जन वाले पाँच नाम हैं-आ भोगनता[2], मार्गणता[3], गवेषणता[4], चिन्ता[5] और विमर्श[6] ।

प्रश्न—अवाय किसको कहते हैं ?

उत्तर--अवाय छः प्रकार का है-श्रोत्रेन्द्रियावाय[7], चक्षुरिन्द्रियावाय, घ्राणेन्द्रियावाय, जिह्वेन्द्रियावाय, स्पर्शेन्द्रियावाय, तथा नो इन्द्रियावाय ।

१—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह को मान कर जो ईहा होती है उसको श्रोत्रेन्द्रियेहा कहते हैं, इसी प्रकार से शेष ईहाओं को भी जान लेना चाहिये २—अर्थावग्रह के पश्चात् ही सद्भूत पदार्थ विशेष के सम्मुख होकर विचार करना । ३—सद्भूत पदार्थ विशेष के सम्मुख होकर के ही उसके पश्चात् अन्वय और व्यतिरेक का अन्वेषण करना । ४—उसके पश्चात् सद्भूत-पदार्थ विशेष के सम्मुख होकर के ही व्यतिरेक धर्म को छोड़ कर अन्वय धर्म के अध्यास (सत्ता) का विचार करना । ५—इसके पश्चात् बारम्बार क्षयोपशम विशेष से अपने धर्मों से युक्त सद्भूत पदार्थ विशेष का चिन्तन करना । ६—इसके पश्चात् क्षयोपशम विशेष से स्पष्टतर सद्भूत पदार्थ विशेष के सम्मुख होकर ही व्यतिरेक धर्म को छोड़ कर तथा अन्वय धर्म को न छोड़ कर अन्वय धर्म का विचार करना । ७—श्रोत्रेन्द्रिय निमित्तक अर्थावग्रह को मान कर जो अवाय प्रवृत्त होता है उसको श्रोत्रेन्द्रियावाय कहते हैं, इसी प्रकार शेष अवायों के विषय में जान लेना चाहिये ।

उस अवाय के एक अर्थ वाले नानाघोष वाले तथा नानाव्यञ्जन वाले पाँच नाम हैं-आवर्तनता[1], प्रत्यावर्तनता[2], अवाय[3], बुद्धि[4] तथा विज्ञान[5]।

प्रश्न—धारणा किसको कहते हैं ?

उत्तर—धारणा छः प्रकार की है-श्रोत्रेन्द्रियधारणा, चक्षुरिन्द्रिय-धारणा, घ्राणेन्द्रियधारणा, जिह्वेन्द्रियधारणा, स्पर्शनेन्द्रियधारणा तथा नोइन्द्रियधारणा, इस धारणा के भी एक अर्थ वाले नाना घोष वाले तथा नानाव्यञ्जन वाले पाँच नाम हैं—धारणा[6], साधारणा[7], स्थापना[8], प्रतिष्ठा[9], और कोष्ठ[10]।

अवग्रह एक समय तक होता है, ईहा अन्तर्मुहूर्त तक होती है, अवाय अन्तर्मुहूर्त होता है तथा धारणा संख्येय वा असंख्येय काल तक होती[11] है।

इस प्रकार अट्ठाईस भेद वाले आभिनिबोधिक ज्ञान के व्यञ्ज-नावग्रह की प्ररूपणा प्रतिबोधक[12] दृष्टान्त से तथा मल्लक[13] दृष्टान्त से होती है।

१—ईहा से निवृत्त होकर परिणाम विशेष के द्वारा अवाय के सम्मुख होना। २—अवाय के समीपवर्ती बोधविशेष। ३—ईहा से निवृत्त होकर अवधारणा। ४—स्पष्टतर बोध परिणति। ५—तीव्रतर धारणा का हेतु बोध विशेष। ६—अवाय के पश्चात् जाने हुए पदार्थ को अविच्युति से अन्तर्मुहूर्त काल तक धारणा करना। ७—जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कर्ष से असंख्येय काल से भी आगे स्मरण। ८—अवाय से निश्चित पदार्थ का हृदय में स्थापन। ९—अवाय से निश्चित पदार्थ का हृदय में अभेद के द्वारा स्थापन। १० अर्थावग्रह। ११—तात्पर्य यह है कि संख्येय वर्ष की आयु वालों की संख्येय काल तक होती है तथा असंख्येय वर्ष की आयु वालों की असंख्ये काल तक होती है। १२—जगाने वाला। १३—शराब (सिकोरा)।

प्रश्न—प्रतिबोधक दृष्टान्त से प्ररूपणा किस प्रकार होती है ?

उत्तर--जैसे कोई पुरुष जब किसी सोते हुए पुरुष को अमुक अमुक कह कर जगाता है तब यह सन्देह होता है कि क्या एक समय में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते हैं अथवा दो समयों में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार तीन समयों से लेकर दश समयों में तक प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते हैं अथवा संख्येय समयों में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते हैं अथवा असंख्येय समयों में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते हैं, इस सन्देह का उत्तर यह है कि एक समय में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त नहीं होते हैं, दो समयों में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त नहीं होते हैं, इसी प्रकार से तीन समयों से लेकर दश समयों तक में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त नहीं होते हैं, तथा संख्येय समयों में भी प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त नहीं होते[१] हैं किन्तु असंख्येय समयों में प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण को प्राप्त होते [२] हैं। इसी को प्रतिबोधक दृष्टान्त से व्यञ्जनावग्रह की प्ररूपणा कहते हैं।

प्रश्न—मल्लक दृष्टान्त से व्यञ्जनावग्रह[३] की प्ररूपणा कौनसी है ?

उत्तर—जैसे कोई पुरुष कुम्हार के आवे में से एक मल्लक (सिकोरे[४]) को लाकर उसमें एक जल बिन्दु को डालता है तो वह

१—इस प्रतिषेध को स्फुट प्रतिभा सरूप अर्थावग्रह स्वरूप विज्ञान की अपेक्षा को लेकर जानना चाहिये, क्योंकि प्रथम समय से भी लेकर कुछ कुछ अव्यक्त ग्रहण तो होता ही है। २—अर्थावग्रहरूप विज्ञान के ग्राह्य बनते हैं। ३—व्यञ्जनावग्रह का काल जघन्य से आवलिका का असंख्येय भाग है तथा उत्कर्ष से संख्येय आवलिकायें हैं। ४—यह बिलकुल रूक्ष होता है।

(जल बिन्दु) उसी में नष्ट हो जाता[1] है और भी जल बिन्दुओं को डालता है तो वे भी (जल बिन्दु) नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार जल बिन्दुओं के डालते डालते एक वह जल का बिन्दु होता है कि जिससे वह मल्लक गीला हो जाता है फिर एक उदक बिन्दु वह होता है कि जो उस मल्लक में स्थिति को प्राप्त होता है, एक उदक बिन्दु वह होता है कि जिससे वह मल्लक भर जाता है, फिर एक उदक बिन्दु वह होता है कि जो मल्लक में से बहने लगता है, इसी प्रकार डाले जाते हुए डाले जाते हुए अनन्त पुद्गलों से जब वह व्यञ्जन पूर्ण हो जाता है तब सोता हुआ मनुष्य हुँकार करता[2] है परन्तु यह नहीं जानता है कि यह शब्दादि क्या[3] है। इसके बाद वह ईहा में प्रवेश करता[4] है तब वह जानता है कि यह अमुक शब्दादि है, तदनन्तर अवाय में प्रवेश करता है तब वह शब्दादि उसके उपगत[5] होता है, तदनन्तर वह धारणा[6] में प्रवेश करता है तब वह उसको संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता[7] है।

देखो! कोई पुरुष जब अव्यक्त[8] शब्द को सुनता[9] है तब वह "शब्द है" इस प्रकार अर्थ ग्रहण तो करता है परन्तु यह नहीं जानता है कि

१—तद्भाव रूप बन जाता है। २—तात्पर्य यह है कि उस समय उन पुद्गलों को अनिर्देश्य रूप से जानता है। ३—तात्पर्य यह है कि स्वरूप, द्रव्य, गुण, क्रिया और विशेष की कल्पना से रहित अनिर्देश्य सामान्य मात्र का ग्रहण करता है। ४—यह क्या है, क्या है, इस प्रकार विचार करना शुरू करता है। ५—तात्पर्य यह है कि वह शब्दादि ज्ञान समीपता के द्वारा आत्मा में परिणत होजाता है। ६—धारणा को वासना रूप जानना चाहिये। ७—संख्येय वर्ष की आयु वाला संख्येय काल तक तथा असंख्येय वर्ष की आयु वाला असंख्येय काल तक धारण करता है। ८—अनिर्देश्य स्वरूप, नाम और जात्यादि की कल्पना से रहित। ९—पहिले सब ही कोई अव्यक्त शब्द को ही सुनता है।

यह शब्दादि क्या[1] है तब वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक शब्द है, तदनन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है तब वह शब्द उसके उपगत होता[2] है, तदन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है तब वह संख्येक काल तक अथवा असंख्येय काल तक उसका धारण करता है, इसी प्रकार जब कोई पुरुष अव्यक्त रूप को देखता है, तब वह "रूप है" इस प्रकार अवग्रहण तो करता है परन्तु यह नहीं जानता है कि यह रूप क्या है, तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक रूप है, तन्दन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है, तब वह उसके उपगत होता है, तदनन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है, तब वह उसका संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता[3] है इसी प्रकार जब कोई पुरुष अव्यक्त[4] गन्ध को सूँघता है तब वह गन्ध का अवग्रहण तो करता है, परन्तु यह नहीं जानता है कि यह क्या गन्ध है, तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक गन्ध है तदनन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है तब वह उसके उपगत होता है, तदनन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है तब वह संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता है, इसी प्रकार जब कोई पुरुष अव्यक्त रस का आस्वाद लेता है तब वह "रस है" इस प्रकार अवग्रहण तो करता है परन्तु यह नहीं जानता है कि यह रस क्या है, तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक रस है, तदनन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है तब वह उसके उपगत

१—उसको शब्दादिरूपतया नहीं जानता है। २—अविच्युति के द्वारा समीपता से आत्मा में परिणत होता है। ३—इस (रूप) के विषय में व्यञ्जनावग्रह की व्याख्या नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नेत्रेन्द्रिय अप्राप्यकारी है। ४—अव्यक्त का स्वरूप प्रथम कहा जा चुका है।

होता है, तदनन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है तब वह उसका संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता है, इसी प्रकार जब कोई पुरुष अव्यक्त स्पर्श का प्रतिसंवेदन[1] करता है तब वह "स्पर्श है" इस प्रकार अवग्रहण तो करता है परन्तु यह नहीं जानता है कि यह क्या स्पर्श है, तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक स्पर्श है, तदनन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है तब वह उसके उपगत होता है, तदनन्तर वह धारणा में, प्रवेश करता है, तब वह उसका संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता है, इसी प्रकार जब कोई पुरुष अव्यक्त[2] स्वप्न को देखता है तब वह "स्वप्न है" इस प्रकार अवग्रहण तो करता है, परन्तु यह नहीं जानता है कि यह क्या स्वप्न[3] है, तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है तब वह जानता है कि यह अमुक स्वप्न है, तदनन्तर वह अवाय में प्रवेश करता है तब वह उसके उपगत होता है, तदनन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है तब वह उसका संख्येय काल तक अथवा असंख्येय काल तक धारण करता है, बस यही मल्लक दृष्टान्त से व्यञ्जनावग्रह की प्ररूपणा[4] है।

वह (मतिज्ञान) संक्षेप से चार प्रकार का है-द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से, उनमें से द्रव्य से आभिनिबोधिक ज्ञानी

१—ज्ञान, अनुभव। २—सम्पूर्ण विशेषताओं से रहित, अनिर्देश्य। ३—उसको स्वरूप भी नहीं जानता है। ४—ये अवग्रह आदि अट्ठाईस भेद जब बारह संख्या वाले बहु आदि तथा अबहु आदि के साथ में विवक्षित होते हैं तब कुल तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

आदेश[1] से सब द्रव्यों[2] को जानता है परन्तु देखता नहीं है, क्षेत्र से आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश से सब क्षेत्र[3] को जानता है परन्तु देखता नहीं है, काल से आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश से सब काल को जानता[4] है परन्तु देखता नहीं है तथा भाव से आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश से सब भावों[5] को जानता है परन्तु देखता नहीं है। अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा, इस प्रकार संक्षेप से आभिनिबोधिक ज्ञान की चार भेद वस्तुयें[6] हैं, इनमें से पदार्थों[7] के अवग्रहण में अवग्रह होता है, पदार्थों के विचार में ईहा होती है। पदार्थों के व्यवसाय[8] में अवाय होता है तथा पदार्थों के धारण में धारणा[9] होती है।

अवग्रह[10] एक समय[11] तक होता है, ईहा और अवाय, आधे मुहूर्त[12] तक होते हैं। तथा धारणा संख्येय काल[13] तक अथवा असंख्येय काल[14] तक होती है।

१—आदेश नाम प्रकार का है और वह दो प्रकार का है। सामान्यरूप और विशेषरूप, उन में से यहाँ पर सामान्यरूप प्रकार जानना चाहिये, इसलिये आदेश से अर्थात् द्रव्य जाति रूप सामान्य आदेश से, ऐसा अर्थ जानना चाहिये अथवा आदेश से अर्थात् सूत्रादेश से। २—धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को। ३—लोकालोक स्वरूप। ४—सर्वाद्धारूपकाल को अथवा अतीत, अनागत और वर्त्तमान रूप काल को। ५—औदयिक आदि पाँच भावों को। ६—भेद विकल्प (अंश) को कहते हैं, वे ही वस्तुयें हैं तात्पर्य यह है कि अवग्रह के विना ईहा नहीं होती है, ईहा के विना निश्चय नहीं होता है तथा निश्चय के विना धारणा नहीं होती है। ७—रूपादिकों के। ८—निर्णय। ९—अविच्युति, स्मृति और वासनारूपधारणा। १०—अर्थावग्रह ११—परमनिकृष्टकाल विभाग को समय कहते हैं। १२—दो घड़ी प्रमाण काल को मुहूर्त्त कहते हैं। १३—वर्षादिरूप काल। १४—पल्योपमादि स्वरूप।

प्राणी स्पृष्ट[1] शब्द को सुनता है, अस्पृष्ट रूप को देखता[2] है तथा गन्ध, रस और स्पर्श का बद्धस्पष्ट[3] का ग्रहण करता है।

भाषा[4] की समान श्रेणियों[5] को प्राप्त जिस शब्द को सुनता है उसको मिश्रित[6] को सुनता है तथा विश्रेणी को प्राप्त जिस शब्द को सुनता है उसको नियम से पराघात होने पर सुनता[7] है।

ईहा[8], अपोह[9], विमर्श[10], मार्गणा[11], गवेषणा[12], संज्ञा[13], स्मृति[14] मति[15] और प्रज्ञा[16], ये सब ही आभिनिबोधिक ज्ञानरूप हैं। यह आभिनिबोधिक ज्ञान कह दिया गया।

प्रश्न—अब कृपा करके परोक्ष ज्ञान के भेद श्रुतज्ञान का वर्णन कीजिए।

१—आलिंगित, जैसे कि शरीर में धूल लगती है। २—क्योंकि चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। ३—स्पृष्टबद्ध, (स्पृष्ट अर्थात् आत्मा से आलिंगित तथा बद्ध अर्थात् जल के समान आत्मप्रदेशों से आत्मीकृत) ४—जो बोली जाती है उसको भाषा कहते हैं (शब्दरूपतया छोड़ी जाती हुई द्रव्य सन्तति)। ५—क्षेत्र प्रदेश पंक्ति। ६—उत्सृष्ट शब्द द्रव्य से भावित मध्यस्थित द्रव्य से मिश्रित। ७—तात्पर्य यह है कि उत्सृष्ट शब्द द्रव्य शब्द के अभिघात से जो वासित शब्द द्रव्य हैं केवल उन्हीं को सुनता है ८—शब्दार्थ पर्यालोचन। ९—निश्चय। १०—अवाय से पूर्व ईहा का परिणाम विशेष। ११—अन्वय धर्म का अन्वेषण। १२—व्यतिरेक धर्म का आलोचन। १३—व्यञ्जनावग्रह के उत्तर समय में होने वाला मति विशेष। १४—पूर्व अनुभूत वस्तु का स्मरण। १५—सूक्ष्मधर्म का विचार रूप बुद्धि। १६—विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न वस्तुगत यथार्थ धर्म का आलोचन।

उत्तर—श्रुतज्ञान परोक्ष चौदह प्रकार का है अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत, संज्ञिश्रुत, असंज्ञिश्रुत, सम्यक् श्रुत, मिथ्याश्रुत, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अङ्ग प्रविष्ट और अनङ्ग प्रविष्ट।

प्रश्न—अक्षर श्रुत किसको कहते हैं।

उत्तर—अक्षर श्रुत तीन प्रकार का है—संज्ञाक्षर, व्यञ्जनाक्षर और लब्ध्यक्षर[1]।

प्रश्न—संज्ञाक्षर किसको कहते हैं?

उत्तर—अक्षर की जो संस्थानाकृति[2] है उसको संज्ञाक्षर कहते हैं।

प्रश्न—व्यञ्जनाक्षर किसको कहते हैं?

उत्तर—अक्षर का जो व्यञ्जनाभिलाप[3] है उसको व्यञ्जनाक्षर कहते हैं।

प्रश्न—लब्ध्य'क्षर' किसको कहते हैं?

उत्तर—अक्षर लब्धि वाले पुरुष[6] को जो लब्ध्यक्षर उत्पन्न होता है उसको लब्ध्यक्षर कहते हैं।

१—अक्षर नाम ज्ञान का है। २—संस्थानाकार (अवयव रचना, आकार)। ३—कहे जाते हुए अकारादि वर्ण समुदाय को व्यञ्जन कहते हैं, (क्योंकि उससे अर्थ का प्रकाशन होता है) तात्पर्य यह है कि अर्थ के व्यञ्जकरूपत्व से बोले जाते हुए जो अकारादि वर्ण हैं उनको व्यञ्जनाक्षर कहते हैं। ४—लब्धि नाम उपयोग का है। ५—भावश्रुत। ६—अक्षर के उच्चारण में अथवा ज्ञान में लब्धि वाले।

देखो ! श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर[1], चक्षुरिन्द्रिय लब्ध्यक्षर[2], घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, रसनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, स्पर्शेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, तथा नोइन्द्रिय लब्ध्यक्षर।

प्रश्न--अनक्षर श्रुत किसको कहते हैं ?

उत्तर—अनक्षर श्रुत अनेक प्रकार का है-उच्छ्वसित[3], निःश्वासित[4], निष्ठ्यूत[5], कासित[6], छिक्का[7], निःसिंघित[8], अनुस्वार[9] और सेटिंतादि।

प्रश्न– संज्ञिश्रुत[10] और असंज्ञिश्रुत किसको कहते हैं ?

उत्तर—संज्ञि श्रुत और असंज्ञि श्रुत तीन प्रकार का है-कालिकी[11] के उपदेश से, हेतु के उपदेश से तथा दृष्टिवाद के उपदेश से।

प्रश्न—कालिकी के उपदेश से संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत कौन सा है ?

१—शब्द का श्रवण होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा "यह शंख का शब्द है" इत्यादि अक्षरों से अनुविद्ध जो शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी विज्ञान होता है उसको श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहते हैं। २—आम्रफल आदि को देख कर "यह आम्रफल है" इत्यादि अक्षरों से अनुविद्ध शब्दार्थपर्यालोचनात्मक जो ज्ञान चक्षु से होता है उसको चक्षुरिन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहते हैं इसी प्रकार से शेष इन्द्रियोंके लब्ध्यक्षर के विषयमें भी जान लेना चाहिये। ३—ऊर्ध्वश्वास। ४—नीचीश्वास। ४—नीचीश्वास। ५—खकारना। ६—खांसना। ७—छींक। ८—निःसिंघन। ९—सानुस्वार। १०—जिसके संज्ञा होती है उसको संज्ञी कहते हैं, उसका जो श्रुत है उसे संज्ञि श्रुतकहते हैं। ११—दीर्घ कालिको संज्ञा को कालिकी कहते हैं।

उत्तर--जिस प्राणी के ईहा[1], अपोह[2], मार्गणा[3], गवेषणा[4], चिन्ता[5] और विमर्श[6], ये सब होते हैं उसे संज्ञी कहते[7] हैं, किन्तु जिस प्राणी के ईहा, अपोह मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श, ये सब नहीं होते हैं वह असंज्ञी[8] माना जाता है, बस इसी को कालिकी के उपदेश से संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत कहते हैं।

प्रश्न--हेतु[9] के उपदेश से संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत किसको कहते हैं?

उत्तर--जिस प्राणी के अभिसन्धारणपूर्वक[10] करण शक्ति[11] होती है वह संज्ञी माना जाता[12] है तथा जिस प्राणी के अभिसन्धारण पूर्वक करण शक्ति नहीं होती है वह असंज्ञी माना जाता[13] है इसी को हेतु के उपदेश से संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत कहते हैं।

प्रश्न--दृष्टिवाद[14] के उपदेश से संज्ञिश्रुत तथा असंज्ञिश्रुत किसको कहते हैं?

१—सदर्थपर्यालोचन। २—निश्चय। ३—अन्वय धर्म का अन्वेषण। ४—व्यतिरेक धर्म स्वरूप का पर्यालोचन। ५—यह कैसे होगा, इत्यादि विचार। ६—यथावस्थित वस्तु के स्वरूप का निर्णय। ७—वह संज्ञी गर्भज पुरुषादि तथा औपपातिक देवादि मनः पर्याप्ति से युक्त जानना चाहिये क्योंकि इसी के त्रिकाल विषयक चिन्ता और विमर्श आदि हो सकते हैं। ८—यह असंज्ञी सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय आदि जानना चाहिये। ९—कारण। १०—अव्यक्त वा व्यक्त ज्ञान के विचार के साथ। ११—कार्य में प्रवृत्ति। १२—यह द्वीन्द्रियादि भी जानना चाहिये। १३—यह असंज्ञी पृथिव्यादि एकेन्द्रिय जानना चाहिये। १४—दर्शन का नाम दृष्टि है (सम्यक्त्वादि) दृष्टियों के वाद (कथन) से अर्थात् उनकी अपेक्षा से।

उत्तर—संज्ञिश्रुत[1] के क्षयोपशम[2] से संज्ञी माना जाता[3] है तथा असंज्ञिश्रुत के[4] क्षयोपशम से असंज्ञी माना जाता है इसी को दृष्टिवाद के उपदेश से संज्ञिश्रुत तथा असंज्ञिश्रुत कहते हैं[5]।

प्रश्न—सम्यक् श्रुत किसको कहते हैं?

उत्तर—उत्पन्न ज्ञान[6] और दर्शन[7] के धारण करने वाले त्रिलोकी से निरीक्षित[8], महित[9] और पूजित[10], अतीत[11], वर्तमान और अनागत[12] के जानने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हद्[13], भगवान्[14] ने जिस द्वादशाङ्ग[15] गणिपिटक[16] को बनाया[17] है उसको सम्यक् श्रुत कहते हैं।

प्रश्न—बारह अङ्ग कौनसे हैं?

उत्तर—आचार, सूत्र कृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद ये बारह अङ्ग हैं।

१—संज्ञा (सम्यग्ज्ञान) जिसके है उसे संज्ञी जानना चाहिये। २—तदावारक कर्म के क्षयोपशम के भाव से। ३—तात्पर्य यह है कि क्षयोपशमिक ज्ञान से युक्त सम्यग्दृष्टि दृष्टिवाद के उपदेश से संज्ञी होता है। ४—मिथ्याश्रुत के। ५—संज्ञी के तीन भेद होने से तद्रूप के उपाधि भेद से श्रुत को भी तीन प्रकार का बतलाया गया है। ६—केवल ज्ञान। ७—केवल दर्शन। ८—मनोरथों की परम्परा की सिद्धि से उत्पन्न हुए आनन्द से विकसित नेत्रों से देखे हुए। ९—यथावस्थित अद्वितीय गुणों के कीर्तन से अर्चित। १०—सत्कृत। ११—भूत। १२—भविष्य। १३—अशोकादि अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य। १४—समग्रऐश्वर्यादि से युक्त। १५—आचार आदि बारह अङ्ग वाले। १६—गच्छ वाले अथवा गुणसमुदाय वाले (आचार्य) की पिटारी (सर्वस्व) के समान। १७—अर्थ कथन द्वारा प्ररूपित किया है।

यह द्वादशाङ्ग, गणिपिटक, चतुर्दशपूर्वधारी का सम्यक् श्रुत होता है तथा अभिन दशपूर्वधारी[1] का भी सम्यक् श्रुत होता है। इससे भिन्न जनों[2] में वह किन्हीं का सम्यक् श्रुत होता है तथा किन्हीं का सम्यक् श्रुत नहीं होता है[3]।

प्रश्न--मिथ्या श्रुत कौनसा है ?

उत्तर--अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि जनों ने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि[4] और मति[5] से जिसकी विकल्पना की है उसे मिथ्या श्रुत कहते हैं।

प्रश्न--मिथ्या श्रुत रूप कौन कौन ग्रन्थ हैं ?

उत्तर--कौटिल्यकादि अनेक ग्रन्थ मिथ्या श्रुत रूप हैं, परन्तु हाँ ये ग्रन्थ भी मिथ्या दृष्टि पुरुष के मिथ्यात्व से परिगृहीत होने से मिथ्या श्रुत हैं तथा सम्यक्दृष्टि पुरुष के सम्यक्त से परिगृहीत होने से ही ये सम्यक् श्रुत होते हैं अथवा मिथ्या दृष्टि पुरुष के भी ये ग्रन्थ सम्यक् श्रुत ही होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के कारण होते हैं, देखो ! वे मिथ्या दृष्टि लोग उन्हीं ग्रन्थों के सिद्धान्तों के द्वारा जब दबाए जाते हैं तब वे लोग पक्षपात रहित होकर अपने पक्ष के आग्रह को छोड़ देते[6] हैं।

१--सम्पूर्णदश पूर्वधारी। २--पश्चानुपूर्वी के द्वारा सम्पूर्णदशपूर्वधारी से लेकर अन्य जनों में। ३--तात्पर्य यह है कि प्रशमादिकगुण समुदाय से युक्त सम्यग् दृष्टि पुरुष का सम्यक् श्रुत होता है तथा विपरीत अर्थ का परिणमन होने से मिथ्यादृष्टि का मिथ्याश्रुत है। ४--अवग्रह और ईहा रूप। ५--अवाय और धारणा रूप मति। ६--तात्पर्य यह है कि उन्हीं ग्रंथों के सिद्धान्तों के अनुसार पूर्वापर के विरोध के द्वारा जब उनको पराजित कर दिया जाता है तब कोई सत्यारूढ विवेकी पुरुष अपने दर्शनों का त्यागकर भगवान् के कहे हुए शासन को स्वीकार कर लेते हैं, इस प्रकार से सम्यक्त्व के कारण होने से कौटिल्यादि ग्रन्थ भी किन्हीं मिथ्यादृष्टियों के भी सम्यक्त्व श्रुत रूप हो जाते हैं।

प्रश्न--सादि[1] सपर्यवसित[2] तथा अनादि[3] अपर्यवसित[4] श्रुत कौन सा है ?

उत्तर--यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक व्यवच्छित्तिनयार्थता के द्वारा सादि[5] और सपर्यवसित है तथा अव्यवच्छित्तिनयार्थता के द्वारा[6] अनादि और अपर्यवसित है वह संक्षेप से चार प्रकार का है द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से, उनमें से द्रव्य से सम्यक् श्रुत एक पुरुष की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित[7] है तथा बहुत से पुरुषों की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित[8] है, क्षेत्र से-पांच भरतों तथा पांच ऐरवतों की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित है तथा पांच महा विदेहों की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित है, काल सो उत्सर्पिणी[9] और अवसर्पिणी की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित है तथा नो उत्सर्पिणी और नो अवसर्पिणी की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित है तथा भाव से जिनप्रज्ञप्त[10] जिन भावों का जब आख्यान किया जात[11] है, प्रज्ञापना की जाती है[12], प्ररूपणा की जाती[14] है, दर्शन किया जाता[15] है, निदर्शन किया

१—आदि के सहित। २—सान्त। ३—आदि रहित। ४—अनन्त। ५—पर्यायास्तिक नय के अर्थ के द्वारा अर्थात् पर्याय के द्वारा। ६—द्रव्यापेक्षया। ७—क्योंकि कालान्तर में उसका नाश हो जाता है। ८—क्योंकि सन्तान के द्वारा प्रवृत्त है। ९—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का स्वरूप दूसरे ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। १०—जिन भगवान् के कहे हुए। ११—सामान्य रूप तथा कथन किया जाता है। १२—नामादि भेदों के प्रदर्शन से कहे जाते हैं। १३—नामादिभेदों के स्वरूप के कथन से कहेजाते १४—उपमान को दिखलाकर प्रकट किये जाते हैं।

जाता[1] है तथा उपदर्शन किया जाता[2] है, उन भावों की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित होता है तथा क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित है, अथवा भव सिद्धिक[3] पुरुष का श्रुत सादि और सपर्यवसित है, तथा अभव सिद्धिक[4] पुरुष का श्रुत अनादि और अपर्यवसित है।

सर्वाकाश[5] प्रदेशों[6] के अग्र[7] को सर्वाकाश प्रदेशों से अनन्त वार गुणा करने पर पर्यायाक्षर[8] की निष्पत्ति[9] होती है, सब जीवों को अक्षर[10] का अनन्त तम भाग नित्य उघड़ा रहता है, यदि वह (अनन्त तम भाग) भी ढक जावे तो जीव अजीवरूप होजावे, देखो! खूब मेघ के उठने पर भी चन्द्र और सूर्य की प्रभा होती ही है।

प्रश्न—गमिक[11] और अगमिक[12] किसको कहते हैं?

उत्तर—दृष्टिवाद को गमिक कहते हैं तथा कालिकश्रुत को अगमिक कहते हैं।

अथवा वह संक्षेप से दो प्रकार का है-अङ्गप्रविष्ट[13] और अङ्ग बाह्य[14]।

प्रश्न—अङ्गबाह्य किसको कहते हैं?

१—हेतु और दृष्टान्त को दिखलाकर स्पष्टतर किए जाते हैं। २—उपनय और निगमन के द्वारा शिष्य की बुद्धि में स्थापित किये जाते हैं। ३—भव्य। ४—अभव्य। ५—लोकालोकाकाश। ६—निर्विभाग भाग। ७—प्रमाण। ८—पर्यायपरिमाणाक्षर। ९—सिद्धि। १०—श्रुतज्ञान। ११—आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता के साथ बारंबार एक ही सूत्र के उच्चारण को गम कहते हैं, गमों से युक्त को गमिक कहते हैं। १२—गमिक से विपरीत। १३—श्रुतरूप पुरुष के अंगों में प्रविष्ट। १४—अंग प्रविष्ट से भिन्न।

उत्तर—अङ्गबाह्य दो प्रकार का है आवश्यक[1] और आवश्यक व्यतिरिक्त।

प्रश्न - आवश्यक किसको कहते हैं ?

उत्तर—आवश्यक छः प्रकार का है—सामयिक, चतुरविंशति-स्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

प्रश्न—आवश्यक व्यतिरिक्त किसको कहते हैं ?

उत्तर—आवश्यक व्यतिरिक्त दो प्रकार का है कालिक[2] और उत्कालिक[3]।

प्रश्न—उत्कालिक किसको कहते हैं ?

उत्तर-उत्कालिक अनेक प्रकार का है-दशवैकालिक, कल्पाकल्प[4] क्षुल्लकल्पश्रुत, महाकल्पश्रुत, औपपातिक राजप्रश्रेणी, जीवाभिगम, प्रज्ञापना[5] महा प्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद[6] नन्दी, अनुयोग द्वार, देवेन्द्र स्तुत, तन्दुल वैतालिक, चन्द्राविध्यात, सूर्यप्रज्ञप्ति[7], पौरुषीमण्डल[8],

---

१—अवश्य कर्त्तव्यक्रियानुष्ठान, अथवा गुणों की अभिविधि से जो आत्मा को वश में करता है उसको आवश्यक कहते हैं (अवश्य कर्त्तव्य सामायिकादि क्रिया का अनुष्ठान) उसके प्रतिपादक श्रुत को भी आवश्यक कहते हैं। २—जो श्रुत दिन और रात्रि की पहिली और पिछली, इन दो ही पौरुषियों में पढ़ा जाता है उसको कालिक कहते हैं। ३—जो श्रुत काल वेला को छोड़कर पढ़ा जाता है उसको उत्कालिक कहते हैं। ४—कल्प (स्थविरादि कल्प) तथा अकल्प का प्रतिपादक श्रुत। ५—इसमें जीवादि पदार्थों का प्रज्ञापन किया गया है। ६—प्रमाद और अप्रमाद के स्वरूप, भेद, फल, और विपाक का प्रतिपादक अध्ययन। ७—सूर्य की गति की जिसमें प्रज्ञापना है। ८—मण्डल मण्डल में भिन्न भिन्न पौरुषी का जिस अध्ययन में वर्णन है।

मण्डल प्रवेश[1] विद्याचरण विनिश्चय[2], गणिविद्या[3], ध्यानविभक्ति[4], मरणविभक्ति[5], आत्मविशुद्धि[6], वीतराग श्रुत[7], संलेखना श्रुत[8], विहार कल्प[9], चरणविधि[10], आतुर प्रत्याख्यान[11] तथा महा प्रत्याख्यान[12]--इत्यादि।

प्रश्न—कालिक किसको कहते हैं ?

उत्तर—कालिक श्रुत भी अनेक प्रकार का है-उत्तराध्ययन दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महा निशीथ, ऋषि भाषित, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप सागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति[13], महा विमान प्रविभक्ति, अङ्गचूलिका[14], वर्ग चूलिका[15], व्याख्याचूलिका[16], अरुणोपपात[17], वरुणोपपात[18], गरुणोपपात[19], धरणोपपात[20],

---

१—दक्षिण और उत्तर मण्डलों में घूमते हुए सूर्य और चन्द्र का जिस प्रकार एक मण्डल से दूसरे मण्डल में प्रवेश होता है, उसका प्रतिपादक ग्रन्थ। २—ज्ञान और चारित्र के फलादि का प्रतिपादक ग्रन्थ। ३---आचार्य के ज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ। ४—ध्यानों के विभाग का प्रतिपादक ग्रन्थ। ५—मरणों के विभाग का प्रतिपादक ग्रन्थ। ६---आत्मा की विशुद्धि का प्रतिपादक ७---वीतराग के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थ। ८—द्रव्य संलेखना और भाव संलेखना का प्रतिपादक ग्रन्थ। ९—विहार की व्यवस्था का प्रतिपादक ग्रन्थ। १०---चारित्र की विधि का प्रतिपादक ग्रन्थ। ११---रोगी के प्रत्याख्यान का प्रतिपादक ग्रन्थ। १२---बड़े प्रत्याख्यान का प्रतिपादक ग्रन्थ। १३—आवलिका प्रविष्ट तथा तद्भिन्न विमानों के विभाग का प्रतिपादक अध्ययन। १४—आचार आदि अङ्गों की चूलिका। १५---अध्ययनों के समूह की चूलिका। १६---भगवती की चूलिका। १७—अरुण नामक देव की वक्तव्यता का प्रतिपादक अध्ययन। १८—वरुण देव की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। १९—गरुड़देव की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। २०—धरणदेव की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ।

वैश्रमणोपपात[1], वेलन्धरोपपात[2], देवेन्द्रोपपात[3], उत्थान श्रुत[4], समुत्थान श्रुत[5], नागपरिज्ञावर्णिका[6], निरयावलिका[7], कल्पिका[8], कल्पावतंसिका[9], पुष्पिता[10], पुष्प चूलिका[11], वृष्टिदशा[12], इत्यादि चौरासी सहस्रप्रकीर्णक भगवान् अर्हद् आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभस्वामी के हैं तथा संख्येय सहस्र प्रकीर्णक[13] मध्यम जिनवरों के हैं तथा चौदह सहस्र प्रकीर्णक भगवान् वर्धमान स्वामी के हैं, अथवा जिसके जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि से युक्त थे उसके उतने ही सहस्र प्रकीर्णक जानने चाहियें तथा उतने ही प्रत्येक बुद्ध भी जानने चाहिए।

प्रश्न--अङ्ग प्रविष्ट श्रुत किसको कहते हैं।

उत्तर-अङ्ग प्रविष्ट श्रुत बारह प्रकार का है-आचार, सूत्र-कृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक दशा,

---

१--वैश्रमणदेव की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। २--वेलन्धर देव की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। ३--देवेन्द्र की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। ४--उत्थान (उद्वसन) के हेतु का प्रतिपादक ग्रन्थ। ५--पुनः निवास के हेतु का प्रतिपादक ग्रन्थ। ६--नागकुमारों की परिज्ञा का प्रतिपादक ग्रन्थ। ७--आवलिका प्रविष्ट तथा तद्भिन्न नरकावासों का तथा तद्गामी नर और तिर्यञ्चों का जिस में वर्णन है। ८--सौधर्म आदि कल्पों की वक्तव्यता के प्रतिपादक ग्रन्थ। ९--कल्पिका के समान जानना चाहिये। १०--समय से पुष्पित प्राणियों की वक्तव्यता का प्रतिपादक ग्रन्थ। ११--इसी विषयों को विशेषतया प्रतिपादक ग्रन्थ। १२--अन्धक, वृष्णिराजा के कुल में उत्पन्न हुए लोगों की दशाओं का प्रतिपादक ग्रन्थ। १३--भगवान् अर्हद् के उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण कर भगवान् श्रमण जिसको रचते हैं उसको प्रकीर्णक कहते हैं।

अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक श्रुत और दृष्टिवाद।

प्रश्न—आचार कौनसा है?

उत्तर—आचार अङ्ग[1] में निर्ग्रन्थ[2] श्रमणों का, आचार[3], गोचर[4], विनय[5], वैनयिक[6], शिक्षा[7] भाषा[8], अभाषा[9], चरण[10], करण[11], यात्रा[12], मात्रा[13] और वृत्तियों[14] का कथन किया गया है। वह आचार संक्षेप से पाँच प्रकार का है-ज्ञानाचार[15], दर्शनाचार, चरित्राचार, तपआचार और वीर्याचार। आचार अङ्ग में परिमित वाचनाएँ[16] हैं, संख्येक अनुयोगद्वार[17] हैं, संख्येय वेढ़[18] हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येक निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय प्रतिपत्तिया[19] हैं, यह अङ्ग अङ्गार्थतया[20] सब अङ्गों में प्रथम अङ्ग है, इसमें दो श्रुत

१—व्यवहार को आचार कहते हैं अर्थात् पूर्व पुरुषों से आचरनादि ज्ञानादि की जो सेवनविधि है उसका नाम आचार है, इस (आचार) के प्रतिपादकग्रन्थ को भी आचार कहते हैं। २—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित। ३—ज्ञानाचार आदि। ४—भिक्षा ग्रहण की विधि। ५—ज्ञानादि विनय। ६—विनयफल (कर्मक्षयादि)। ७—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। ८—सत्यासत्यमृषा। ९—मृषा और सत्यामृषा। १०—व्रतादि। ११—पिण्डविशुद्ध्यादि। १२—संयमयात्रा। १३—परिमित आहार का ग्रहण। १४—अनेक प्रकार के अभिग्रहों से वर्ताव करना। १५—ज्ञानाचार आदि का स्वरूप ग्रन्थान्तरों से जान लेना चाहिये। १६—सूत्र अथवा अर्थ का दान। १७—उपक्रम आदि। १८—छन्दोविशेष। १९—द्रव्यादि पदार्थों के अभ्युपगम अथवा प्रतिमाद्यभिग्रह विशेष। २०—अर्थ शब्द का ग्रहण यह प्रकट करता है कि परलोक चिन्ता में सूत्र से अर्थ बड़ा है।

स्कन्ध[१] हैं, पच्चीस अध्यन हैं, पचासी उद्देशन काल हैं, पचासी समुद्देश्यनकाल हैं, पदपरिमाण से अठारह सहस्र पद[२] हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम[३] हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस[४] हैं, अनन्त स्थावर[५] हैं, इस अङ्ग में शास्वत[६] कृत[७], निबद्ध[८] और निकाचित[९] जिन प्रज्ञप्त[१०] भावों का आख्यान किया गया[११] है, प्रज्ञापना की गई[१२] है, प्ररूपणा की गई[१३] है, दर्शन किया गया[१४] है, निदर्शन किया गया[१५] है तथा उपदर्शन किया गया[१६] है, आचार अङ्ग का जानने वाला पुरुष आचार स्वरूप ही हो जाता है, ज्ञाता हो जाता है, तथा विज्ञाता हो जाता है इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है

प्रश्न- सूत्रकृत किसको कहते हैं ?

उत्तर - सूत्रकृत[१७] अंग में लोक का सूचन किया गया है, अलोक का सूचन किया गया है, लोकालोक का सूचन किया गया है, जीवों का सूचन किया गया है, अजीवों का सूचन किया गया है, जीवाजीवों का सूचन किया गया है, स्वसमय[१८] का

१—अध्ययन समुदायरूप । २—जिसमें अर्थ की उपलब्धि होती उसको पद कहते हैं । ३—अर्थगम । (अर्थपरिच्छेद) । ४—द्वीन्द्रियादि । ५—वनस्पतिकायादि । ६—धर्मास्तिकायादि । ७—प्रयोगविस्रसाजन्य । ८—सूत्र में स्वरूप से कहे हुए । ९—निर्युक्ति आदि के द्वारा । १०—जिन-कथित । ११—सामान्यरूप और विशेषरूप से कहे गये हैं । १२—नामादि भेद के उपन्यास से कहे गये हैं । १३—नामादि भेदों को दिखला कर पृथक् पृथक् कहे गये हैं । १४—उपमा को दिखला कर कहे गये हैं । १५—हेतु और दृष्टान्त को दिखला कर कहे गये हैं । १६—निगमन के द्वारा कहे गए हैं । १७—सूचन करने से सूत्र कहलाता है इसलिये यह समझना चाहिये कि जो सूत्ररूप से किया गया है उसको सूत्रकृत कहते हैं । १८—स्वसिद्धान्त का ।

सूचन किया गया है, पर समय का सूचन किया गया है तथा स्वसमय और परसमय[1] का सूचन किया गया है। इस सूत्र कृताङ्ग में एक सौ अस्सी क्रियावादियों का, चौरासी अक्रिया वादियों का, सड़सठ अज्ञानियों का, बत्तीस विनय वादियों का, इस प्रकार से तीनसौत्रेसठ पाखण्डियों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना की गई[2] है इस[3] सूत्र कृतअङ्ग में परिमित वाचनाएँ हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संख्येय वेढ़ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियां हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियां हैं।

अङ्गार्थता के द्वारा यह दूसरा अङ्ग है, इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं, तेईस अध्ययन हैं, तेंतीस उद्देशन काल हैं, तेंतीस समुद्देशन काल हैं, पदपरिमाण से छत्तीस सहस्र पंद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्तगम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं, इस सूत्र कृताङ्ग में शास्वत, कृत, निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का आख्या-किया गया है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है, तथा उपदर्शन किया गया है। सूत्र कृताङ्ग का जानने वाला पुरुष सूत्रकृताङ्ग रूप ही हो जाता है, वह ज्ञाता होजाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस सूत्र कृताङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—स्थानाङ्ग किसको कहते हैं?

१—परसिद्धान्त का। २—इन सब क्रियावादी आदि के पृथक पृथक भेद नन्दीसूत्र आदि ग्रन्थों में अथवा इसी अंग में देख कर जान लेने चाहिये। ३—सर्व विषय आचारांग के वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिये।

उत्तर—स्थानाङ्ग[1] में जीवों की स्थापना की गई[2] है, अजीवों की स्थापना की गई है, अपने समय की स्थापना की गई है, पर समय की स्थापना की गई है, स्वसमय और पर समय की स्थापना की गई है, लोक की स्थापना की गई है अलोक की स्थापना की गई है तथा लोकालोक की स्थापना की गई है। इस स्थानाङ्ग में टंक,[3] कूट,[4] शैल,[5] शिखरी,[6] प्राग्भार,[7] कुण्ड,[8] गुहा,[9] आकर,[10] हृद,[11] और नदियों[12] का कथन किया गया है। स्थानाङ्ग में परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संख्येय वेढ़ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं। संख्येय संग्रहिणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। यह अङ्गार्थता के द्वारा तृतीय अङ्ग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, दश अध्यन हैं, इक्कीस उद्देशन काल हैं, इक्कीस समुद्देशन काल हैं, पद परिमाण से बहत्तर सहस्र पद हैं। संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परमित त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं—इसमें शास्वत, कृत, निबद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है। स्थानाङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही होजाता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

१—पतिपाद्यतया जीवादि पदार्थ जिसमें स्थित हैं उनको स्थान कहते हैं। २—यथाऽस्थित स्वरूप की प्ररूपणा में स्थापित किये गये हैं, इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिये। ३—छिन्नतट। ४—पर्वत के ऊपरी भाग। ५—हिमालय आदि। ६—वैताढ्य आदि। ७—कुब्जकूट ८—गंगा कुण्ड आदि। ९—तिमिश्रगुहादि। १०—सुवर्णादि के उत्पत्ति के स्थान। ११—पौण्डरीक आदि। १२—गंगासिन्धु आदि।

इस प्रकार इस अंग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—समवायाङ्ग किसको कहते हैं?

उत्तर—समवायाङ्ग[1] में जीवों का समाश्रय किया गया है,[2] अजीवों का समाश्रय किया गया है, जीवों और अजीवों का समाश्रय किया गया है, स्वसमय का समाश्रय किया गया है, परसमय का समाश्रय किया गया है, स्वसमय और पर समय का समाश्रय किया गया है, लोक का समाश्रय किया गया है, अलोक का समाश्रय किया गया है, तथा लोकालोक का समाश्रय किया गया है।

समवायाङ्ग में एकादि एकोत्तर शत स्थानों तक विवर्धित भावों की प्ररूपणा का कथन किया गया[3] है तथा बारह प्रकार के गणि-पिटक के पल्लवाग्र[4] का समाश्रय किया गया है।

समवायाङ्ग की परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोग द्वारा हैं, संख्येय वेढ़ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं।

अङ्गार्थता के द्वारा यह चौथा अङ्ग है, इसमें एक श्रुत स्कन्ध है, एक अध्ययन है, एक उद्देशन काल है, एक समुद्देशन काल है, पद परिमाण से एक लाख चवालीस पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय ह, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

१—जिससे जीवादि पदार्थों का अच्छे प्रकार से निश्चय होता है उसको समवाय कहते हैं। २—यथावस्थिततया बुद्धि के द्वारा स्वीकृत किए गए हैं, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए। ३—तात्पर्य यह है कि एक संख्या में, द्विसंख्या में, इसी प्रकार सौ संख्या तक में जो जो भाव जिस जिस में अन्तर्गत होते हैं उनकी उन्हीं उन्हीं में प्ररूपणा की गई है। ४—पद्यपरिमाण।

इस अङ्ग में शास्वत, कृत, निवद्ध, और निकाचित जिनप्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

समवायाङ्ग का जानने वाला पुरुप तद्रूप ही होजाता है, ज्ञाता होजाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा की गई है।

प्रश्न—व्याख्या किसको कहते हैं ?

उत्तर—व्याख्या में जीवों का व्याख्यान किया गया है, अजीवों व्याख्यान किया गया है, जीवाजीवों का व्याख्यान किया गया है, स्वसमय[1] का व्याख्यान किया गया है, पर समय[2] का व्याख्यान किया गया है, स्वसमय और परसमय का व्याख्यान किया गया है, लोक का व्याख्यान किया गया है, अलोक का व्याख्यान किया गया है तथा लोकालोक का व्याख्यान किया गया है।

व्याख्या की परिमित वाचनाएँ हैं, संख्येय अनुयोग द्वार है, संख्येय वेढ़ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियां हैं, संख्येय संग्रहिणियां हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियां हैं। यह अङ्गार्थता के द्वारा पांचवां अङ्ग है, इसमें एक श्रुत स्कन्ध है, सातिरेक[3] एक सौ अध्ययन हैं, दश सहस्र उद्देशक हैं, दशसहस्र समुद्देशक हैं, छत्तीस सहस्र व्याकरण हैं, पदपरिमाण से दो लाख अठासी सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

१—स्वसिद्धान्त। २—परसिद्धान्त। ३—कुछ अधिक।

इस अङ्ग में शास्वत, कृत, निबद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है। इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही होजाता है, ज्ञाता होजाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—ज्ञाता धर्म कथा[1] किसको कहते हैं?

उत्तर - ज्ञाताधर्म कथाओं में ज्ञाताओं के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, समवसरणों, राजाओं, माता पिताओं, धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की तथा परलोक की ऋद्धियों, भोग परित्यागों, प्रव्रज्याओं, पर्यायों, श्रुतपरिग्रहों, तप के उपधानों, संलेखनाओं, भक्त प्रत्याख्यानों, पादपोपगमनों, देव लोक गमनों, सुकुल में उत्पत्तियों, पुनः बोध की प्राप्तियों तथा अन्तक्रियाओं का कथन किया गया है।

धर्मकथाओं के दश[2] वर्ग हैं,[3] उनमें से एक एक धर्मकथा में पांच पांच सौ आख्याधिकाएँ हैं, एक एक आख्याधिका में पांच पांच सौ उपाख्यायिकाएँ है तथा एक एक उपाख्यायिका में पाँच पाँच सौ आख्यायि को पाख्यायिकाएँ हैं, इस प्रकार पूर्वापर के सहित साढ़े तीन करोड़ कथाएँ हैं।

१—ज्ञात उदाहरणों को कहते हैं, तत्प्रधान जो धर्मकथायें हैं, उनको ज्ञाता धर्म कथा कहते हैं, अथवा ज्ञाताध्ययन को ज्ञात कहते हैं, वे जिसमें प्रथम श्रुतस्कन्ध में हैं तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्म कथायें हैं, उनको ज्ञाता धर्म कथायें कहते हैं। २ समूह। ३ इन्हीं को दश अध्याय भी कहते हैं।

ज्ञाताधर्म कथा की परिमित वाचनाएँ हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संख्येय वेढ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय संग्रहिणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। अङ्गार्थता के द्वारा यह छठा अङ्ग है—इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं, उन्नीस अध्ययन हैं, उन्नीस उद्देशन काल हैं, उन्नीस समुद्देशन काल हैं, पदपरिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अङ्ग में शास्वत, कृत, निबद्ध, और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही हो जाता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—उपासक दशा किसको कहते हैं ?

उत्तर—उपासक दशा[1] में श्रमणोपासकों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, समवसरणों, राजाओं, माता पिताओं, धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की तथा परलोक की ऋद्धियों, भोग परित्यागों, प्रव्रज्याओं, पर्यायों, श्रुत परिग्रहों, तप के उपधानों, शीलव्रत, गुण, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास के परित्याग से प्रतिमाओं, उपसर्गों, संलेखनाओं, भक्त प्रत्याख्यानों, पादपोप गमनों, देवलोक गमनों,

---

१—उपासक नाम श्रावकों का है, उन में स्थित अणुव्रत और गुणव्रतादि क्रिया समुदाय से सम्बन्ध रखने वाली दशाओं (अध्ययनों) को उपासक दशा कहते हैं।

सुकुल[1] में उत्पत्तियों, पुनः वोधिलाभों[2] और अन्त क्रियाओं का कथन किया गया है। उपासक दशा की परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संख्येय वेढ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय संग्रहिणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं।

यह अङ्गार्थता के द्वारा सातवाँ अङ्ग है, इसमें एक श्रुत स्कन्ध है दश अध्ययन हैं, दश उद्देशन काल हैं, दश समुद्देशन काल हैं, पदपरिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं संख्येय अक्षर हैं, अनन्तगम हैं, अनन्त पर्याय हैं परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इसमें शास्वत, कृत निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्ति भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही हो जाता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—अन्तकृद्दशा किसको कहते हैं?

उत्तर—अन्तकृद्दशा[3] में अन्तकृतों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, समवसरणों, राजाओं, माता पिताओं, धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की और परलोक की ऋद्धियों भोग परित्यागों,

---

१—सुन्दर वंश। २—ज्ञान के लाभों। ३—कर्मों का अथवा उनके फलस्वरूप संसार का जिन्होंने अन्त (विनाश) कर दिया है उनको अन्तकृत् कहते हैं, अर्थात् तीर्थङ्करों को अन्तकृत् कहते हैं, उनकी सम्बध्यता के प्रतिपादक जो अध्ययन हैं उनको अन्तकृद्दशा कहते हैं।

प्रव्रज्याओं, पर्यायों, श्रुतपरिग्रहों, तप के उपधानों संलेखनाओं, भक्त प्रत्याख्यानों, पादपोपगमनों, और अन्त क्रियाओं[1] का कथन किया गया है।

अन्तकृद्दशा में परिमित वाचनाएँ हैं, संख्येय अनुयोग द्वारा हैं संख्येय वेढ हैं. संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं संख्येय संग्रहिणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। यह अङ्गार्थता के द्वारा आठवाँ अङ्ग है. इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, आठ वर्ग हैं. आठ उद्देशन काल हैं. आठ समुद्देशन काल हैं पदपरिमाण से संख्येय संहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं अनन्त गम हैं अनन्त पर्याय हैं परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अङ्ग में शास्वत. कृत निबद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है. प्रज्ञापना की गई है प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही हो जाता है. ज्ञाता होजाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—अनुत्तरौपपातिक दशा किसको कहते हैं ?

उत्तर—अनुत्तरौपपातिक दशा[2] में अनुत्तरौपपातिकों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, समवसरणों, राजाओं, माता पिताओं

१—संसार की अपेक्षा से अन्त्य क्रियायें (शैलेशी अवस्था आदि)

२—जिन से उत्तर (प्रधान) कोई नहीं है उनको अनुत्तर कहते हैं अर्थात् सर्वोत्तम, उपपात से जो हुए हैं उनको औपपातिक कहते हैं अनुत्तर रूप जो औपपातिक हैं (विजयादि अनुत्तर विमल वासी) उनकी वक्तव्यता के प्रतिपादक अध्ययनों को अनुतरौपपातिक दशा कहते हैं।

धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की तथा परलोक की ऋद्धियों, भोग परित्यागों, प्रव्रज्याओं, पर्यायों, श्रुतपरिग्रहों, तप के उपधानों, प्रतिमाओं, उपसर्गों, संलेखनाओं, भक्त प्रत्या ख्यानों, पादपोपगमनों, अनुत्तरौपपातिक रूप से उत्पत्ति, सुकुल में उत्पत्तियों, पुनः बोधिलाभों और अन्त क्रियाओं का कथन किया गया है।

अनुत्तरौपपातिक दशा में परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संख्येय वेढ़ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय संग्रहिणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। अङ्गार्थता के द्वारा यह नवाँ अङ्ग है इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, तीन वर्ग[1] हैं, तीन उद्देशन काल हैं, तीन समुद्देशन काल हैं, पद परिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अंग में शास्वत, कृत, निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया किया गया है।

इस अंग का जानने वाला, तद्रूप ही हो जाता है ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस इस अंग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—व्याकरण किसको कहते हैं?

1—अध्ययन समूह।

उत्तर—प्रश्न व्याकरण[1] में एक सौ आठ अंगुष्ठ प्रश्नादि प्रश्नों[2], एक सौ आठ अप्रश्नों[3] तथा एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्नों[4] का कथन किया गया है इनके सिवाय और भी विचित्र विद्यातिशयों का वर्णन है तथा नागकुमारों और सुपर्ण कुमारों के साथ में दिव्य संवादों[5] का कथन किया गया है।

प्रश्न—व्याकरण की परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोग द्वार हैं, संयेख्य वेढ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय संग्रहणियाँ हैं तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। अङ्गार्थता के द्वारा यह दशवाँ अङ्ग है, इसमें एक श्रुत स्कन्ध हैं, पैंतालीस समुद्देशन काल हैं, पद परिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अङ्ग में शाश्वत, कृत, निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही होजाता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता होजाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

प्रश्न—विपाकश्रुत किसको कहते हैं?

१—प्रश्न विषयक निर्वचन। २—जो विद्यायें अथवा मंत्र विधि से जपे जाने पर पूछने पर ही शुभाशुभ कहते हैं उनको प्रश्न कहते हैं। ३—जो विद्यायें अथवा मंत्र विधि से जपे जाने पर बिना पूछे ही शुभाशुभ कहते हैं उनको अप्रश्न कहते हैं। ४—प्रश्नों और अप्रश्नों का। ५—जल्पविधियों।

उत्तर—विपाकश्रुत[1] में सुकृत दुष्कृत कर्मों के फल और विपाक का कथन किया गया है. उसमें दश दुःख विपाकों का वर्णन है तथा दश सुख विपाकों का वर्णन है।

प्रश्न—दुःख विपाक कौन से हैं ?

उत्तर—दुःख विपाकों में दुःख विपाकों के, नगरों, उद्यानों, वन-खण्डों, चैत्यों समवसरणों राजाओं, माता पिताओं, धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की तथा परलोक की ऋद्धियों[2] नरक गमनों, संसार में होने वाले प्रपञ्चों. दुःख परम्पराओं, दुष्कुल[3] में उत्पत्तियों तथा दुर्लभतया[4] ज्ञान होने का कथन किया गया है ?

प्रश्न—सुख विपाक किनको कहते हैं ?

उत्तर—सुख विपाक में सुख विपाकों के, नगरों, उद्यानों, वन-खण्डों, चैत्यों समवसरणों, राजाओं, मातापिताओं, धर्माचार्यों, धर्म कथाओं, इस लोक की तथा परलोक की ऋद्धियों, भोग परित्यागों, प्रव्रज्याओं, पर्यायों श्रुत परिग्रहों तप के उपधानों, संलेखनाओं, भक्त प्रत्याख्यानों, पादपोपगमनों, देवलोकगमनों, सुख परम्पराओं सुकुल में उत्पत्तियों, पुनः ज्ञान के लाभों और अन्तक्रियाओं का कथन किया गया है।

विपाक श्रुत की परिमित[5] वाचनायें हैं संख्येय अनुयोगद्वार हैं, संख्येय वेढ हैं. संख्येय श्लोक हैं संख्येय निर्युक्तियाँ हैं, संख्येय संग्रहिणियाँ हैं, तथा संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं। अङ्गार्थता के द्वारा यह ग्यारहवाँ अङ्ग है, इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं, बीस अध्ययन हैं, बीस उद्देशन

१—विरचन को विपाक कहते हैं अर्थात् शुभाशुभ रूप कर्मों के परिणाम का नाम विपाक है उसके प्रतिपादक श्रुत को विपाक श्रुत कहते हैं। २—सम्पत्तियों। ३—निकृष्ट कुल। ४—कठिनता से। ५—परिमाण युक्त।

काल हैं, बीस समुद्देशन काल हैं। पद परिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं. अनन्त गम हैं अनन्त पर्याय हैं परमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अङ्ग में शास्वत, कृत, निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है. प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है निदर्शन किया गया गया है, तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही होता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया।

प्रश्न—दृष्टिवाद कौनसा है ?

उत्तर—दृष्टिवाद[1] में सब भावों की प्ररूपणा का कथन किया गया है वह संक्षेप से पाँच प्रकार का है—परिकर्म[2] सूत्र पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।

प्रश्न—परिकर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—परिकर्म सात प्रकार का[3] है-सिद्ध श्रेणिका परिकर्म, मनुष्य श्रेणिका परिकर्म, पुष्ट श्रेणिका परिकर्म, अवगाढ़ श्रेणिका

१—दर्शन का नाम दृष्टि है उन दृष्टियों (दर्शन) का जो वाद है उसको दृष्टिवाद कहते हैं, अथवा "दृष्टिपात" पद जानना चाहिये तथा वहां यह अर्थ समझना चाहिये कि जिसमें दृष्टियों का पात हैं उसे दृष्टिपात कहते हैं इस अंग में सर्व नयों की दृष्टियों का कथन किया गया है। २—योग्यता के आपादन (साधन) को परिकर्म कहते हैं तथा उसके हेतु शास्त्र को भी परिकर्म कहते हैं। ३—सिद्धश्रेणिका परिकर्मादि मूल भेदों की अपेक्षा से सात प्रकार का है किन्तु मातृका पदादि उत्तर भेदों की अपेक्षा से तिरासी प्रकार का है।

परिकर्म, उपसम्पर्यण श्रेणिका परिकर्म विप्र जघन्य श्रेणिका परिकर्म तथा च्युताच्युत श्रेणिका परिकर्म ।

प्रश्न—सिद्ध श्रेणिका परिकर्म कौनसा है ?

उत्तर--सिद्धश्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का है-मातृका पद, एकार्थिक पद, अर्थ पद, पाढ, आमास पद, केतु भूत राशिवद्ध, एक गुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह संसार प्रतिग्रह, नन्दावर्त और सिद्धावर्त ।

प्रश्न—मनुष्य श्रेणिका परिकर्म किसको कहते है ?

उत्तर—मनुष्य श्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का है—मातृका पद, एकार्थिकपद[1], अर्थपद[2], पाढ, आमास पद, केतुभूत, राशिवद्ध, एक गुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह, संसार प्रतिग्रह, नन्दावर्त और मनुष्यावर्त ।

प्रश्न—पुष्टश्रेणिका परिकर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—पुष्टश्रेणिका परिकर्म, ग्यारह प्रकार का है-पाढ, आमास पद, केतुभूत, राशिवद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह, संसार प्रतिग्रह नन्दावर्त और पुष्टावर्त ।

प्रश्न—अवगाढ श्रेणिका परिकर्म कौनसा है ?

उत्तर—अवगाढ श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—पाढ आमास पद, केतुभूत, राशिवद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह, संसार प्रतिग्रह, नन्दावर्त और अवगाढावर्त ।

प्रश्न—उपसम्यर्पण श्रेणिका परिकर्म कौनसा है ?

उत्तर—उपसम्यर्पण श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—पाढ । आमासपद, केतुभूत, राशिवद्ध, एकगुण, द्विगुण,

---

१—एक अर्थ से विशिष्ट पद । २—अर्थ सहित पद ।

त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह. संसार प्रतिग्रह: नन्दावर्त, और उपसम्पर्यपर्णावर्त।

प्रश्न--विप्रजघन्य श्रेणिका परिकर्म कौनसा है?

उत्तर--विप्रजघन्य श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है--पाढ, आमासपद, केतुभूत, राशिवद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह, संसार प्रतिग्रह, नन्दावर्त और विप्रजघन्यावर्त।

प्रश्न- च्युताच्युत श्रेणिका परिकर्म कौनसा है?

उत्तर--च्युताच्युत श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है--पाढ, आमासपद, केतुभूत, राशिवद्ध एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत प्रतिग्रह संसार प्रतिग्रह, नन्दावर्त और च्युताच्युतावर्त।

इनमें छः परिकर्म चार नय वाले हैं तथा सात त्रैराशिक[1] हैं।

प्रश्न--सूत्र किनको कहते हैं?

उत्तर--सूत्र[2] बाईस हैं--ऋजुसूत्र, परिणता परिणत, बहुभङ्गिक, विजय चरित, अनन्त, परम्पर, सामान्य, संयूथ, संभिन्न, अर्थवाद, सौवस्तिकघण्ट नन्दावर्त, बहुल, पुष्टापुष्ठ, वियावर्त, एवम्भूत, द्वयावर्त, वर्तमान पद समभिरूढ, सर्वतोभद्र, प्रज्ञास और दुष्प्रतिग्रह।

१—नैगम आदि सात नय हैं, नैगम भी दो प्रकार का है सामान्यग्राही और विशेष ग्राही, इनमें से जो सामान्य ग्राही है वह संग्रह में प्रविष्ट है तथा विशेषग्राही व्यवहार में प्रविष्ट है शब्दादि जो तीन नय हैं उन्हें एक ही माना जाता है, इस रीति से चार ही नय हैं, इन्हीं चार नयों के द्वारा पहिले छः परिकर्मों का स्वसमय की वक्तव्यता के द्वारा विचार किया गया है तथा वे ही गोशाल प्रवर्त्तित आजीविक पाखण्डी त्रैराशिक कहे जाते हैं। २—पूर्वगत सूत्रार्थ की सूचना करने से सूत्र कहा जाता है।

ये बाईस सूत्र स्वसमय सूत्र की परिपाटी से छिन्नच्छेद नय[1] वाले हैं, ये बाईस सूत्र आजीविक सूत्र की परिपाटी से अच्छिन्नच्छेद-नय वाले हैं, ये बाईस सूत्र त्रैराशिक सूत्र की परिपाटी से तीन नय वाले हैं, ये बाईस सूत्र स्वसमय सूत्र की परिपाटी से चार नय वाले हैं, इसी प्रकार पूर्वापर के सहित अट्टासी सूत्र हैं।

प्रश्न—पूर्वगत किसको कहते हैं ?

उत्तर—पूर्वगत[2] चौदह प्रकार का है-उत्पादपूर्व[3], अग्रायणीय[4], वीर्य[5], अस्तिनास्तिप्रवाद[6], ज्ञान प्रवाद[7], सत्य प्रवाद[8], आत्म प्रवाद[9] कर्म प्रवाद[10], प्रत्याख्यान प्रवाद[11], विद्यानु प्रवाद[12], अवन्ध्य[13], प्राणायुः[14], क्रिया विशाल[15] और लोकविन्दुसार,[16] इनमें से उत्पाद पूर्व की दश वस्तुएँ[17] हैं, तथा चार चूलिका वस्तुएं हैं,अग्रायणीय पूर्व की

१—छिन्नच्छेदनयादि का वर्णन दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये, विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिखा जाता है। २—तीर्थङ्कर तीर्थ प्रवर्त्तन समय में सकल श्रुत के अर्थ के ग्रहण में समर्थ गणधरों के लिये पहिले पूर्वगत सूत्रार्थ का कथन करते हैं इसलिये इनको पूर्व कहा गया है। ३—उत्पादका प्रतिपादक पूर्व। ४—सर्वद्रव्यादि के परिमाण का प्रतिपादक। ५—इसका पूरा नाम वीर्य प्रवाद है, इसमें सकर्म और अकर्म जीवों तथा अजीवों के वीर्य का कथन किया गया है। ६—वस्तुओं के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रतिपादक। ७—पञ्चविध ज्ञान का प्रतिपादक। ८—सत्य अथवा संयम का प्रतिपादक। ९—आत्मा का प्रतिपादक। १०—आठ प्रकार के कर्म का प्रतिपादक। ११—प्रत्याख्यान का प्रतिपादक। १२—विद्याओं का प्रतिपादक। १३—इसमें शुभ फल वाले ज्ञानादि का तथा अशुभ फल वाले प्रमादादि का वर्णन है। १४—प्राण और आयु का प्रतिपादक। १५—सर्व क्रियाओं का प्रतिपादक। १६—श्रुत रूपी लोक में अक्षर के ऊपर बिन्दु के समान सार (सर्वोत्तम)। १७—ग्रन्थ विच्छेद विशेष।

चौदह वस्तुयें हैं तथा बारह चूलिका वस्तुयें हैं, वीर्य पूर्व की आठ वस्तुयें हैं तथा आठ चूलिका वस्तुयें हैं, अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व की अठारह वस्तुयें हैं तथा दश चूलिका वस्तुयें हैं, ज्ञान प्रवाद पूर्व की बारह वस्तुयें हैं, सत्य प्रवाद पूर्व की दो वस्तुयें हैं, आत्म प्रवाद पूर्व की सोलह वस्तुयें हैं, कर्म प्रवाद पूर्व की तीस वस्तुयें हैं, प्रत्याख्यान पूर्व की बीस वस्तुयें हैं, विद्यानु प्रवाद पूर्व की पन्द्रह वस्तुयें हैं, अवन्ध्य पूर्व की बारह वस्तुयें हैं, प्राणायु पूर्व की तेरह वस्तुयें हैं, क्रिया विशाल पूर्व की तीस वस्तुयें हैं, तथा लोक विन्दुसार पूर्व की पच्चीस वस्तुयें हैं, तात्पर्य यह है कि पहले की दश, दूसरे की चौदह, तीसरे की आठ, चौथे की अठारह, पाँचवें की बारह, छठे की दो, सातवें की सोलह, आठवें की तीस, नवें की बीस, दशवें की पन्द्रह, ग्यारहवें की बारह, बारहवें की तेरह, तेरहवें की तीस तथा चौदहवें की पच्चीस वस्तुयें हैं, तथा पहिले की चार, दूसरे की बारह, तीसरे की आठ तथा चौथे की दश चूलिका वस्तुयें[1] हैं, इस प्रकार चूलिका वस्तुयें पहिले ही चार पूर्वों की हैं, शेष पूर्वों की चूलिका वस्तुयें नहीं हैं।

प्रश्न—अनुयोग किसको कहते हैं?

उत्तर—अनुयोग[2] दो प्रकार का है, मूलप्रथमानुयोग[3] और गण्डिकानुयोग[4]।

१—वस्तु नाम ग्रन्थ विच्छेद विशेष का है (यह प्रथम कहा जा चुका है) उसी (वस्तु) को लघु होने से चूलिका वस्तु कहते हैं। २—अनुकूलयोग को अनुयोग कहते हैं तात्पर्य यह है कि अपने अभिधेय के साथ सूत्र का जो अनुरूप सम्बन्ध है उसको अनुयोग कहते हैं। ३—मूल (तीर्थङ्करों) का प्रथम (सम्यक्त्वावाप्ति स्वरूप पूर्वभवादि विषयक) अनुयोग। ४—गडिका (एकार्थाधिकार वाली ग्रन्थपद्धति) का अनुयोग।

प्रश्न—मूल प्रथमानुयोग कौनसा है ?

उत्तर—मूल प्रथमानुयोग में भगवान् अर्हतों के पूर्व भव, देवलोक गमन, आयु, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राजवर श्री, प्रव्रज्या, उग्रतप, केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ प्रवर्तन, शिष्य, गण, गणधर, आर्या, प्रवर्तिनी, चतुर्विधसंघका परिमाण, जिन मनःपर्याय, अवधिज्ञानी, सम्यक्त्व श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरगति, उत्तर विकुर्वणा, मुनि, जितने सिद्ध, सिद्धिपथ की प्ररूपणा, जितने समय तक पादपोपगत हुए, जो मुनिवरोत्तम जितने जिनके साथ भक्त का प्रत्याख्यान कर अन्तकृत हुए, तिमिर समूह से मुक्त हुए, तथा सर्वोत्तम, मोक्ष सुख को प्राप्त हुए इत्यादि वहुत से विषय कहे गये हैं।

प्रश्न—गण्डिकानुयोग किसको कहते हैं ?

उत्तर—गण्डिकानुयोग में कुल कर गण्डिकायें[1], गणधरगण्डिकायें, भद्र वाहुगण्डिकायें, तपः कर्मगण्डिकायें, हरिवंशगण्डिकायें, उत्सर्पिणीगण्डिकायें, अवसर्पिणीगण्डिकायें, चित्रान्तरगण्डिकायें[2] तथा अमर, नर, तिर्यच् और निरयगति में गमन, विविध पर्यटनों के विषय में विभिन्न गण्डिकायें कहीं गई हैं उनकी प्रज्ञापना की गई है।

१—सर्वत्र अपान्तरालवर्ती बहुत सी प्रतिनियत एकार्थाधिकार रूप गण्डिकायें हैं, इसलिये बहु वचन कहा गया है, कुल करों (विमल वाहनादिकों) की गण्डिकायें—इसी प्रकार यथायोग्य आगे भी जान लेना चाहिये।२—चित्र (अनेक अर्थवाली) अन्तर में (ऋषभ अजित तीर्थ करके मध्य में जो गण्डिकायें हैं, उनको चित्रान्तर गण्डिकायें कहते हैं, इनकी विशेश प्ररूपणा ग्रन्थान्तरों में देख लेनी चाहिये।

प्रश्न—चूलिका[1] किनको कहते हैं ?

उत्तर—प्रथम कहा जा चुका है कि पहले चार पूर्वों की चूलिकायें हैं तथा शेष पूर्वों की चूलिकायें नहीं हैं। इस दृष्टिवाद अङ्ग की परिमित वाचनायें हैं, संख्येय अनुयोगद्वार हैं, संख्येय वेढ हैं, संख्येय श्लोक हैं, संख्येय प्रतिपत्तियाँ हैं, संख्येय निर्युक्तियाँ हैं तथा संख्येक संग्रहिणियाँ हैं।

यह अङ्गार्थता के द्वारा बारहवां अङ्ग है, इसमें एक श्रुतस्कन्ध है, चौदह पूर्व हैं, संख्येय वस्तु[2] हैं, संख्येय चूलिका वस्तु[3] हैं, संख्येय प्राभृत हैं, संख्येय प्राभृत प्राभृत हैं, संख्येय प्राभृतिकायें हैं, संख्येय प्राभृतिक प्राभृतिकायें हैं, पद परिमाण से संख्येय सहस्र पद हैं, संख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्याय हैं, परिमित त्रस हैं तथा अनन्त स्थावर हैं।

इस अङ्ग में शास्वत, कृत, निवद्ध और निकाचित जिन प्रज्ञप्त भावों का कथन किया गया है, प्रज्ञापना की गई है, प्ररूपणा की गई है, दर्शन किया गया है, निदर्शन किया गया है तथा उपदर्शन किया गया है।

इस अङ्ग का जानने वाला तद्रूप ही हो जाता है, ज्ञाता हो जाता है तथा विज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार इस अङ्ग में चरण और करण की प्ररूपणा का कथन किया गया है।

१—इनको चूला भी कहते हैं, चूला नाम शिखर का है (जैसे कि मेरु पर चूला है) यहां पर यह जानना चाहिये कि परिकर्म सूत्र, पूर्व और अनुयोग रूप दृष्टिवाद में जो अनुक्त अर्थ का संग्रह करने वाली ग्रन्थ पद्धतियाँ हैं उनको चूला कहते हैं। २—कुल दो सौ पचीस वस्तुयें हैं (जिनका अलग अलग वर्णन किया जा चुका है)। ३—ये कुल चौंतीस हैं।

इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक में अनन्त भाव[१], अनन्त अभाव[२], अनन्त हेतु[३], अनन्त अहेतु[४], अनन्त कारण[५], अनन्त अकारण[६], अनन्त जीव[७], अनन्त अजीव[८], अनन्त भवसिद्धक[९], अनन्त अभवसिद्धिक[१०], अनन्त सिद्ध[११] तथा अनन्त असिद्ध[१२] कहे गये हैं।

इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की अतीत काल में अनन्त जीव आज्ञा के द्वारा[१३] विराधना कर चतुरन्त संसार वन में घूम चुके हैं। इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की वर्तमान काल में परिमित[१४] जीव आज्ञा के द्वारा विराधना कर चतुरन्त संसार वन में घूमते हैं तथा इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की भविष्यत् काल में अनन्त जीव आज्ञा के द्वारा विराधना कर चतुरन्त संसार वन में घूमेंगे।

इस द्वादशाङ्ग रूपगणि पिटक की अतीत काल में अनन्त जीव आज्ञा के द्वारा आराधना कर चतुरन्त संसार वन का उल्लघंन कर चुके[१५] हैं इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की वर्तमान काल में परिमित जीव आज्ञा के द्वारा आराधना कर चतुरन्त संसार वन का उल्लंघन करते हैं तथा इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की भविष्यत् काल में

१—जीवादि पदार्थ। २—पर रूप से असत् पदार्थ। ३—जिज्ञासित धर्म से विशिष्ट वस्तु को बतलाने वाले को हेतु कहते हैं। ४—हेतु से भिन्न। ५—घटादि के निर्वर्त्तक मृत् पिण्डादि। ६—कारण से भिन्न। ७—प्राणी। ८—परमाणुद्व्यणुकादि। ९—अनादि पारिणामिक सिद्धि गमन की योग्यता से युक्त। १०—भव्यों से भिन्न। ११—कर्म मल कलङ्क से रहित। १२—संसारी। १३—यथोक्त आज्ञा का पालन न करने से। १४—क्योंकि वर्तमान काल की चिन्ता में विराधक मनुष्य संख्येय हैं। १५—मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

अनन्त जीव आज्ञा के द्वारा आराधना कर चतुरन्त संसार वन का उल्लंघन करेंगे।

यह द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक कभी नहीं था, यह बात नहीं है[1], कभी नहीं होता है यह बात नहीं है[2], तथा कभी नहीं होगा, यह बात भी नहीं है[3], किन्तु था, है और होगा, क्योंकि यह ध्रुव[4] है, नियत[5] है, शास्वत[6] है, अक्षय[7] है अव्यय[8] है, अवस्थित[9] है, तथा नित्य[10] है, जिस प्रकार पञ्चास्तिकाय कभी नहीं था, यह बात नहीं है, कभी नहीं होता है, यह बात नहीं है, तथा कभी नहीं होगा, यह बात भी नहीं है किन्तु, था, है और होगा क्योंकि वह ध्रुव है, नियत है, शास्वत है अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, और नित्य है, इसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी कभी नहीं था, यह बात नहीं है, कभी नहीं होता है, यह बात नही हैं तथा कभी नहीं होगा यह बात भी नहीं है, किन्तु था, है और होगा, क्योंकि यह ध्रुव है, नियत है, शास्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है तथा नित्य है[11]।

वह[12] संक्षेप से चार प्रकार का है--द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से, उनमें से द्रव्य से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होकर सब द्रव्यों को

१—सदैव था। २—सदैव रहता है। ३—सदैव रहेगा। ४—मेरुआदि के समान। ५—ध्रुव होने के कारण जीवादि पदार्थों में प्रतिपादक रूप से नियत है। ६—शश्वद्भवन स्वभाव हैं। ७—क्षय रहित है। ८—व्ययरहित है। ९—जम्बूद्वीपादि के समान प्रमाण में अवस्थित है। १०—आकाश के समान नित्य है। ११—यह श्रुतज्ञान का संक्षेपतया वर्णन किया गया है। १२—द्वादशाङ्ग।

जानता और देखता है, क्षेत्र से श्रुतज्ञानी[1] उपयुक्त होकर सब क्षेत्र को जानता और देखता है, काल से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होकर सब काल को जानता और देखता है तथा भाव से श्रुतज्ञानी उपयुक्त होकर सब भावों को जानता और देखता है।

यहाँ पर यह अति संक्षेप से पाँच ज्ञानों के विषय में कथन किया गया है, इनका विस्तार पूर्वक वर्णन अनेक शास्त्रों में किया गया है वहाँ देख लेना चाहिए।

जैन न्याय-दिग्दर्शन

श्री जैन सिद्धान्त में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों (पदार्थों) को माना गया गया है[2]।

इतर नैयायिक लोग-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ मानते हैं किन्तु वैशेषिक आदि नैयायिक अभाव को छोड़ कर छः ही पदार्थों को मानते हैं, इनमें से उन लोगों का सामान्य और विशेष को पदार्थ मानना सर्वथा ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थ आत्मस्वरूप से सजातीय पदार्थ के ज्ञापक और

१—श्रुतज्ञानी शब्द से यहाँ पर अभिन्न, दश पूर्वधर आदि श्रुत केवली को जानना चाहिये क्योंकि वही नियम से श्रुतज्ञान के बल से सर्व द्रव्यादि को जान सकता है, उसकी अपेक्षा जो उरले श्रुत ज्ञानी हैं उनके सर्व द्रव्यादि के ज्ञान में विकल्प है अर्थात् कोई सर्व-द्रव्यादि को जानते हैं तथा कोई नहीं जानते हैं। २—इनका विस्तारपूर्वक वर्णन अनेक ग्रन्थों में किया गया है तथा "भूरसुन्दरी विवेक विलास" ग्रन्थ में भी किया जा चुका है, वहाँ देख लेना चाहिये।

विजातीय पदार्थ के व्यवच्छेदक होते हैं अतः वे स्वयं ही सामान्य और विशेप रूप होते हैं, देखो! घटपदार्थ स्वाकार से प्रतीति का विषय होकर तदाकार वाले दूसरे पदार्थों को भी घटरूपतया बतला कर सामान्य रूप माना जाता है और वही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा सजातीय[1] और विजातीय[2] दूसरे पदार्थों से अपने को पृथक् बतला कर विशेष रूप माना जाता है-इसलिये सामान्य और विशेप को पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थ-धर्म होने से इनकी प्रतीति होजाती है तथा धर्म धर्मी से न तो सर्वथा भिन्न माने जाते[3] हैं और न सर्वथा अभिन्न माने जाते हैं[4]।

अब ये लोग जो एकान्त[5] नित्य तथा एकान्त अनित्य पक्ष को मानते हैं अर्थात् घट[6] पट[7] आदि पदार्थों को सर्वथा अनित्य मानते हैं तथा आकाश आदि पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते हैं सो इनका यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब ही पदार्थ द्रव्यार्थिक नय कीअपेक्षा से नित्य हैं तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य हैं, देखो! दीपक[8] पदार्थ (जिसको ये लोग सर्वथा अनित्य मानते हैं) सर्वथा अनित्य यहीं है, किन्तु उपर्युक्त[9] नय के अनुसार नित्यानित्य है-देखो! प्रदीप पर्याय को प्राप्त हुए तैजस[10] परमाणु अपने रस से तैल का क्षय[11] होने से अथवा वायु का अविघात

१—समान जाति वाले। २—भिन्न जाति वाले। ३—यदि धर्म धर्मी से सर्वथा भिन्न माने जावें तो विशेषण भाव की सिद्धि नहीं हो सके। ४—यदि धर्म धर्मी से सर्वथा अभिन्न माने जावें तो धर्मधर्मिभाव की सिद्धि न हो सके तथा दोनों में एक असत् माना जावे। ५—सर्वथा। ६—घड़ा। ७—वस्त्र। ८—दीवा। ९—ऊपर कहे हुए। १०—तैजः सम्बधी। ११—नाश।

होने[1] से ज्योतिष्पर्याय को छोड़ कर तमोरूप[2] दूसरे पर्याय को प्राप्त होने पर भी एकान्त से अनित्य नहीं हैं, क्योंकि पुद्गल रूप से वे अवस्थित[3] हैं, पूर्व पर्याय का नाश होता है तथा उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है, केवल इतने मात्र से वे अनित्य नहीं हो सकते हैं-फिर देखो ! स्थासक, कोश, कुशूल शिवक और घट आदि भिन्न भिन्न दशाओं को प्राप्त होने पर भी मिट्टी रूप द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं होता है, इसी प्रकार से आकाश भी (जिसको ये लोग सर्वथा नित्य मानते हैं) नित्या-नित्य रूप हैं, क्योंकि वह भी उत्पाद[4], व्यय[5] और ध्रौव्य[6] स्वरूप है, देखो ! अवगाहना करने वाले जीव पुद्गलों को अवगाहना देने में जो उपकार है वही आकाश का लक्षण है, जब अवगाहना करने वाले जीव पुद्गल प्रयोग (पुरुष शक्ति) से अथवा विस्रसा (स्वभाव) से एक आकाश प्रदेश से दूसरे प्रदेश को प्राप्त होते हैं तब उस आकाश के अवगाहना करने वाले उन (जीव पुद्गलों) के साथ एक प्रदेश का विभाग होता है तथा दूसरे प्रदेश में संयोग होता है-संयोग और विभाग ये दोनों धर्म परस्पर में विरुद्ध[7] हैं, उनका भेद होने पर धर्मी का अवश्य भेद होना चाहिये, इसलिये वह आकाश पूर्व संयोग विनाश स्वरूप परिणामापत्ति से तो नष्ट हो गया है तथा उत्तर संयोग की उत्पत्ति नामक परिणाम का अनुभव करने से उत्पन्न हुआ है, दोनों में आकाश द्रव्य अनुगत[8] है, इसलिये यह उत्पत्ति और विनाश का एकाधिकरण[9] है,-किञ्च जो लोग अप्रच्युत[10], अनुत्पन्न[11], स्थिर और एक रूप होना नित्य का लक्षण कहते हैं वह उनका कथन ठीक नहीं है,

---

१—धक्का लगने से। २—अन्धकाररूप। ३—मौजूद। ४—उत्पत्ति। ५—नाश। ६—स्थिरता। ७—विरोधी, भिन्न। ८—व्यास, सम्बद्ध। ९—एक आश्रय। १०—प्रच्यवन से रहित। ११—उत्पत्ति से रहित।

क्योंकि संसार में उक्त प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है. इसके अतिरिक्त नित्य का उक्त लक्षण मानने पर उत्पाद और व्यय ये दोनों धर्म निराधार[1] हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में नियत्त्व और अनित्यत्त्व के होने पर जो लोग केवल नित्य और केवल अनित्य का कथन करते हैं वह उनका मन्तव्य[2] सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है।

पूर्वोक्त नैयायिक लोगों का जो यह मन्तव्य है कि—"जगत् का कर्त्ता ईश्वर है और वह सर्वव्यापक है तथा नित्य है" सो उनका यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि जगत् का कर्त्ता ईश्वर है, यह मन्तव्य प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रश्न—उक्त मन्तव्य की तो अनुमान प्रमाण से सिद्धि होती है, फिर आप यह कैसे कहते हैं कि प्रमाण से सिद्धि नहीं होती है, देखो! पृथिवी, पर्वत और वृक्ष आदि जितने पदार्थ हैं उन सबका कर्त्ता[3] कोई बुद्धिमान् है, क्योंकि वे सब कार्य हैं जो जो कार्य होता है वह बुद्धिमान का किया हुआ होता है, जैसे कि घटरूप कार्य बुद्धिमान् कुम्भार का किया हुआ है, घटरूप कार्य के समान पर्वत आदि भी कार्य हैं इसलिये वे भी किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं। किन्तु जो पदार्थ किसी का बनाया हुआ नहीं है वह कार्य भी नहीं है, जैसे कि आकाश, उन पर्वत आदि का बनाने वाला बुद्धिमान् जो कर्त्ता है उसी को ईश्वर जानना चाहिये, किञ्च—यह हमारा कहा हुआ हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अपने अपने कारण समुदाय से उत्पन्न

१—आश्रय से रहित। २—मत। ३—बनाने वाला।

होने के कारण अथवा अवयवी[1] होने के कारण पर्वत आदि पदार्थ कार्यरूप ही हैं, इस बात को सब लोग मानते हैं तथा हमारा कहा हुआ उक्त हेतु अनैकान्तिक[2] तथा विरुद्ध[3] भी नहीं है, क्योंकि वह विपक्ष[4] से सर्वथा व्यावृत्त[5] है, तथा उक्त हेतु कालात्ययापदिष्ट[6] भी नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से अबाधित[7] धर्म और धर्मी के बाद कहा गया है तथा उक्त हेतु प्रकरणसम[8] भी नहीं है, क्योंकि उसके विरोधी धर्म की सिद्धि करने में समर्थ विरोधी अनुमान कोई नहीं है।

उत्तर—भला हम तुमसे प्रथम तो यही पूछते हैं कि तुम ईश्वर को अशरीरी[9] मानते हो तो अशरीरी होने के कारण ईश्वर पृथिवी और पर्वत आदि का बनाने वाला कैसे हो सकता है ?

वादी—आप ईश्वर रूपी धर्मी को प्रतीत[10] मानते हैं अथवा अप्रतीत[11] मानते हैं—यदि अप्रतीत मानें तो यह ठीक नहीं है क्योंकि "अशरीरत्वात्[12]" यह जो आपने हेतु कहा है वह आश्रयासिद्ध[13] हो जावेगा, तथा यदि ईश्वर को प्रतीत मानें तो जिस प्रमाण से आप ईश्वर को प्रतीत मानते हैं उसी प्रमाण से यह भी मान लेना चाहिये कि वह अपने आप ही अपने शरीर को बना लेता है—तो फिर वह अशरीरी कैसे हो सकता है, इसलिये हमारा कथन सर्वथा ठीक है।

१—अवयव वाले। २—व्यभिचारी। ३—सर्वदा विपक्ष में ही मिलने वाला। ४—साध्य से रहित पदार्थ को विपक्ष कहते हैं। ५—निवृत्त, पृथक्। ६—काल के अत्यय से कहा हुआ। ७—बाधा रहित। ८—साध्य से विरुद्ध धर्म की सिद्धि करने वाला अनुमान प्रमाण जिस हेतु में बाधा पहुँचाता है उसको प्रकरणसम कहते हैं। ९—शरीर रहित। १०—ज्ञात, विदित। ११—अज्ञात, अविदित। १२—शरीर रहित होने से। १३—आश्रय न होने से असिद्ध।

किञ्च वह ईश्वर एक अर्थात् अद्वितीय है, क्योंकि विश्व[1] के बनाने वाले बहुत से ईश्वरों को मानने में परस्पर में विरुद्धमति की सम्भावना होती है और एक एक वस्तु को भिन्न २ रूप में बनाने में सबही की अव्यवस्था[2] हो जा सकती है।

फिर वह ईश्वर सर्वग अर्थात् सर्वव्यापी है, क्योंकि यदि उसे किसी खास स्थान में माना जावे तो अनियत[3] स्थानों में रहने वाले त्रिलोकी के सर्व पदार्थों का यथावत्[4] निर्माण[5] नहीं हो सकता है, देखो! कुम्भार एकदेशवर्ती[6] है, वह त्रिलोकी के अनियत देशवर्ती पदार्थों का निर्माण नहीं कर सकता है. अथवा वह ईश्वर सर्वग अर्थात् सर्वज्ञ है, यदि वह सर्वज्ञ न हो तो यथोचित[7] उपादान आदि कारणों के न जानने से अनुकूल कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

वह सृष्टिकर्त्ता[8] ईश्वर स्वतन्त्र भी है। क्योंकि सब प्राणियों को अपनी इच्छा से सुख और दुःख का अनुभव करा सकता है, यदि उसे पराधीन माना जावे तो दूसरे का मुंह ताकने से मुख्य कर्त्ता न रहने से वह ईश्वर ही नहीं हो सकता है, फिर वह ईश्वर नित्य अर्थात् अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूप है, यदि उसे अनित्य माना जावे तो दूसरे से उत्पन्न किये जाने के कारण वह कृतक[9] हो जावेगा, क्योंकि जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति में दूसरे के व्यापार की अपेक्षा करता है वह कृतक कहा जाता है, इसके सिवाय यदि उसका बनाने वाला कोई और माना जावे तो यह भी प्रश्न होता है कि वह (ईश्वर का बनाने वाला) नित्य है अथवा अनित्य है, यदि उसे नित्य माना जावे तो ईश्वर को ही नित्य क्यों न मान लिया जावे तथा यदि उसे अनित्य

१—संसार। २—व्यवस्था (नियम) का अभाव। ३—अनिश्चित। ४—ठीक रीति से। ५—रचना। ६—एक स्थान में रहने वाला। ७—यथायोग्य। ८—सृष्टि को बनाने वाला। ९—बनावटी।

माना जावे तो उसका भी बनाने वाला कोई और होना चाहिये, उसके विषय में भी नित्य और अनित्य की कल्पना होने पर अनवस्था[1] दोष आ जावेगा, इसलिये यह मान लेना चाहिये कि सब जगत् का कर्त्ता[2] ईश्वर है, और वह सर्वव्यापक[3] वा सर्वज्ञ[4] है, एक है, स्वाधीन है तथा नित्य है।

उत्तर—यह सब पूर्वोक्त कथन प्रलाप रूप है. देखो! प्रथम जो तुमने यह कहा था कि "पृथ्वी आदि सर्व पदार्थ किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, घट के समान" सो तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है-क्योंकि तुम्हारे इस कथन में व्याप्ति[5] नहीं मिलती है, देखो! साधन (हेतु) सब जगह प्रमाण के द्वारा व्याप्ति के सिद्ध होने पर साध्य[6] को बतलाता है, यह सब ही वादियों का कथन है, अब तुम यह बात बतलाओ कि जगत् का बनाने वाला वह ईश्वर सशरीर[7] है अथवा अशरीर[8] है? यदि सशरीर है तो क्या हम लोगों के समान उसका भी शरीर दीखता है, अथवा पिशाचादि के समान उसका शरीर नहीं दीखता है? इनमें से पहिला पक्ष मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधा होती है-क्योंकि उसके बिना भी तृण, तरु[9] इन्द्रधनुष और बादल आदि में कार्यत्व दीखता है, प्रमेयत्व[10] आदि के समान इसलिये तुम्हारा कहा हुआ हेतु साधारण नैकान्तिक[11] हो जाता है, दूसरा पक्ष मानने पर उसका शरीर न दीखने में उसका माहात्म्य विशेष[12] कारण है अथवा अस्मदादि[13] के अदृष्ट[14] का दोष है,

१—अवस्थिति का अभाव। २—बनाने वाला। ३—सब जगह मौजूद। ४—सबको जानने वाला। ५—साहचर्य का नियम। ६—साध्य धर्म। ७—शरीर वाला। ८—शरीर रहित। ९—वृक्ष। १०—ज्ञेयत्व। ११—साधारण रूप व्यभिचारी। १२—विशेष प्रकार का महत्त्व। १३—हम लोगों के। १४—दैव, भाग्य।

इन में से यदि पहिला पक्ष मानो तो इसका तो विश्वास वे ही करेंगे जिन्होंने मादक द्रव्य[1] का पान किया है, क्योंकि माहात्म्य विशेष की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है, फिर इस पक्ष में इतरेतराश्रय[2] दोष भी आता है क्योंकि माहात्म्य विशेष की सिद्धि होने पर उसके अदृश्य[3] शरीर की सिद्धि होती है और अदृश्य शरीर की सिद्धि होने पर माहात्म्य विशेष की सिद्धि होती है।

अब यदि दूसरा प्रकार माना जावे अर्थात् ईश्वर को अदृश्य शरीर माना जावे तो यह प्रकार तो सन्देह की निवृत्ति न होने से समझ में ही नहीं आता है, सन्देह यह होता है कि वह वन्ध्यापुत्रादि के समान असत्[4] होने के कारण अदृश्य शरीर है अथवा हम लोगों के अदृष्ट दोष से पिशाचादि के समान अदृश्य शरीर है-इस विषय में कोई निश्चय नहीं होता है।

अब यदि तुम ईश्वर को शरीर रहित मानते हो तो तुम्हारे कहे हुए दृष्टान्त[5] और दार्ष्टान्तिक[6] में विषमता[7] है, क्योंकि घट आदि जो कार्य हैं वे शरीर वाले कर्त्ता से बनाये हुए दीखते हैं किन्तु जो शरीर रहित तुम्हारा माना हुआ ईश्वर है उसका सामर्थ्य[8] कार्य प्रवृत्ति में कैसे हो सकता है? जैसे कि आकाश शरीर रहित है उसकी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिये ईश्वर को सशरीर[9] मानने में तथा अशरीर[10] मानने में अर्थात् दोनों पक्षों में कार्यत्वरूपी हेतु की व्याप्ति[11] की सिद्धि नहीं होती है।

१—नशीला वस्तु। २—एक की सिद्धि होने पर दूसरे की सिद्धि होना। ३—न दीखने योग्य। ४—अविद्यमान। ५—उदाहरण। ६—जिसके विषय में दृष्टान्त दिया जाता है उसे दार्ष्टान्तिक कहते हैं। ७—असमानता, अतुल्यता। ८—शक्ति। ९—शरीर वाला। १०—शरीर रहित। ११—साहचर्य नियम।

किञ्च-तुम्हारा कहा हुआ उक्त हेतु तुम्हारे ही मत से कालात्यया[1] पदिष्ट भी है, क्योंकि धर्मी के एकान्वयवरूप जो वृक्ष, बिजली और मेघ आदि हैं वे उत्पन्न होते हुए तो अब भी दीख पड़ते हैं परन्तु उनको बनाने वाला कोई नहीं दीख पड़ता है, इसलिये प्रत्यक्ष से बाधित[2] धर्मी के अनन्तर हेतु का कथन होने से वह कालात्ययापदिष्ट है, इसलिये यह बात सिद्ध हो गई कि जगत् का कर्त्ता कोई नहीं है, ऐसी दशा में ईश्वर के जो तुम एकत्व[3] आदि विशेषण मानते हो वे भी व्यर्थ रूप हैं-तथापि उनके विषय में भी कुछ कहा जाता है:—

ईश्वर को तुम जगत् का कर्त्ता बतला कर उसे जो एक अर्थात् अद्वितीय मानते हो और उसमें युक्ति प्रकट करते हो कि "एक कार्य के करने में बहुत से कर्त्ता होने में विरुद्धमति[4] का होना सम्भव है" सो तुम्हारा यह कथन एकान्त[5] नहीं है क्योंकि सैकड़ों कीटिकायें[6] मिल कर एक वल्मीक[7] को बनाती हैं, महल आदि को अनेक शिल्पी लोग मिल कर बनाते हैं तथा अनेक मधुमक्षिकायें[8] मिल कर एक मधु के छत्ते को बनाती हैं तो फिर तुम्हारी कही हुई उक्त युक्ति कैसे ठीक हो सकती है ?

अब जो तुम जगत् का कर्त्ता ईश्वर को मान कर उसे सर्वगत[9] मानते हो सो उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है-देखो ! ईश्वर को जो तुम सर्वगत मानते हो वह शरीर स्वरूप से मानते हो या ज्ञान-स्वरूप से मानते हो, यदि शरीर स्वरूप से सर्वगत मानो तो उसी के शरीर से त्रिलोकी व्याप्त[10] हो जावेगी तो फिर दूसरे रचने योग्य पदार्थों को

१—इसका स्वरूप पहिले कहा जा चुका है। २—बाधायुक्त। ३—एक होने। ४—जुदी सम्मति। ५—सर्वत्र ठीक रूप से रहने वाला। ६—कीड़ियां। ७—वमोटा। ८—शहद की मक्खियां। ९—सर्वत्र व्यापक। १०—पूर्ण।

आश्रय[1] कहाँ से मिल सकेगा अब यदि दूसरा पक्ष मानो तो हेतु की सिद्ध[2] साध्यता होती है क्योंकि हम भी तो निरतिशय[3] ज्ञानस्वरूप से परमपुरुष को जगत्त्रय[4] में व्याप्त मानते हैं।

अब जो तुमने यह कहा था कि "ईश्वर को नियत देशवर्त्ती[5] मानने पर अनियत देशों में रहने वाले त्रिलोकी के पदार्थों का ठीक २ निर्माण[6] नहीं हो सकता है" इस विषय में हम तुम से यह पूछते हैं कि तीनों लोकों का निर्माण करता हुआ वह ईश्वर तक्ष[7] आदि के समान साक्षात् देह के व्यापार से पदार्थों को बनाता है अथवा सङ्कल्पमात्र[8] से बनाता है, यदि पहिला पक्ष मानो तो एक ही पृथ्वी और पर्वत आदि के बनाने में बहुत सा समय बीत जावेगा तो फिर अत्यधिक[9] काल के द्वारा भी अन्य पदार्थों का निर्माण तो नहीं हो सकेगा, अब यदि दूसरा पक्ष मानो तो संकल्प मात्र से कार्य की सिद्धि हो जाने पर ईश्वर को नियत देश स्थायी मानने पर भी कोई दूषण[10] नहीं दीखता है।

फिर देखो! ईश्वर को सर्वव्यापी[11] मानने में अपवित्र नरकादि स्थानों में भी उसकी वृत्ति[12] माननी पड़ेगी और ऐसा होने में अनिष्ट की आपत्ति होती है।

वादी—आप भी तो यह मानते हैं कि परम पुरुष ज्ञान स्वरूप से सर्व जगत् में व्यापक है तो आप के मन्तव्य[13] के अनुसार भी तो

१—सहारा। २—सिद्ध बात को ही सिद्ध करना। ३—सर्वोत्तम। ४—तीनों लोकों। ५—खास स्थान में रहने वाला। ६—रचना। ७—बढ़ई। ८—केवल इच्छा। ९—बहुत ही अधिक। १०—दोष। ११—सब जगह मौजूद। १२—मौजूदगी। १३—मत।

उसके अशुचिरसास्वादन[1] आदि का उपालम्भ[2] दिया जा सकता है तथा नरकादि दुःखस्वरूप का अनुभव करने रूप से दुःख के अनुभव का भी प्रसंग होता है, इस प्रकार अनिष्ट की आपत्ति समान ही है।

उत्तर—युक्तियों से समाधान करने में असमर्थ तुम्हारा यह कथन धूल फेंकने के समान है, देखो! ज्ञान अप्राप्यकारी[3] है इसलिये वह अपने स्थान में स्थित रह कर ही विषय का ज्ञान करा देता है, किन्तु वह विषय के पास जाकर उसका ज्ञान नहीं कराता है, तो फिर तुम्हारा उपालम्भ देना कैसे ठीक हो सकता है?

किञ्च—तुम्हारे मत में भी तो अशुचि के ज्ञानमात्र से उसके रस के आस्वाद का अनुभव नहीं माना जाता है, यदि ज्ञानमात्र से आस्वाद का अनुभव हो तो माला, चन्दन, स्त्री और रसोई आदि का विचार करने मात्र पर तृप्ति की सिद्धि होने पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना निष्फल हो जावे।

हमने ज्ञानस्वरूप से सर्वव्यापक[4] होने में हेतु का जो सिद्ध-साधन[5] बतलाया था उसे केवल शक्ति की अपेक्षा से जानना चाहिये, वास्तव में ज्ञान प्राप्यकारि[6] नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का धर्म है, इसलिये वह आत्मा से बाहर नहीं निकलता है, यदि वह बाहर निकले तो आत्मा अचैतन्य[7] हो कर अजीव हो जावे, इसके सिवाय धर्मी को छोड़ कर धर्म कहीं भी अकेला नहीं दीख पड़ता है।

१—अपवित्र पदार्थ के रस का आस्वाद। २—उलहना। ३—अस्पृष्ट वस्तु का ज्ञान कराने वाला। ४—सब जगह मौजूद। ५—सिद्ध पदार्थ का सिद्ध करने वाला। ६—प्राप्त (सम्बद्ध) वस्तु का ज्ञान कराने वाला। ७—चेतनता से रहित।

वादी—आप कहते हैं कि धर्मी को छोड़कर धर्म कहीं बाहर नहीं निकलता है, सो आपका यह कथन ठीक नहीं है देखो ! सूर्य की किरणें गुणरूप होने पर भी सूर्य में से निकल कर संसार को प्रकाशित करती हैं, इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा में से बाहर निकलकर ज्ञेय[1] पदार्थ को बतलाता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि किरणें गुणरूप नहीं हैं वे तो तैजस पुद्गलों से बनी हैं, इसलिये द्रव्यरूप हैं तथा उन किरणों का प्रकाश स्वरूप जो गुण है वह उनसे कभी प्रथक् नहीं होता है[2]।

अब जो तुम उक्त ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हो, इस विषय में यह पूछना है कि तुम ईश्वर को सर्वज्ञ किस प्रमाण से मानते हो, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ मानते हो, अथवा परोक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ मानते हो, यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से उसे सर्वज्ञ मानो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से होती है, इसलिये वह अतीन्द्रिय[3] पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकता है तथा यदि परोक्ष प्रमाण से ईश्वर को सर्वज्ञ मानो तो इस विषय में यह पूछना है कि अनुमान प्रमाण से उसे सर्वज्ञ मानते हो अथवा शब्द[4] प्रमाण से सर्वज्ञ मानते हो, यदि अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ मानो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति लिङ्ग[5] और लिङ्गी[6] के सम्बन्ध के स्मरण के साथ होती है तथा ईश्वर के सर्वज्ञत्वरूपी

१—जानने योग्य। २—श्रीमान् श्रीहरिभद्राचार्य ने भी धर्म संग्रहणी टीका में "किरणें द्रव्यरूप हैं" इस विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। ३—इन्द्रियों से न जानने योग्य। ४—आगम। ५—साधन। ६—साधन वाला।

अनुमेय[1] में कोई अव्यभिचारी[2] लिङ्ग नहीं दीखता है, क्योंकि उसके अति दूरवर्त्ती होने से उससे सम्बन्ध रखने वाले लिंग के सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है।

वादी—यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न माना जावे तो जगत् की विचित्रता[3] की सिद्धि नहीं होती है, परन्तु संसार की विचित्रता तो दीख ही पड़ती है, इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है।

उत्तर—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अविनाभाव[4] नहीं दीखता है—देखो! ईश्वर की सर्वज्ञता के विना संसार की विचित्रता न हो सके यह वात सिद्ध नहीं होती है, देखो! संसार दो प्रकार का है—स्थावर और जङ्गम इनमें से जङ्गमों में जो विचित्रता है वह अपने कृत[5] शुभाशुभ कर्मों के विपाक के कारण होती है। अब जो स्थावर सचेतन हैं उनमें भी यही वात है। किन्तु अचेतनों में जो विचित्रता है वह सचेतनों के उपभोग की योग्यता के साधन होने से अनादि काल से ही सिद्ध है।

आगम प्रमाण से भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि इस विषय में यह प्रश्न होता है कि वह आगम ईश्वर का बनाया हुआ है, अथवा दूसरे का बनाया हुआ है, यदि उसे ईश्वर का बनाया हुआ माना जावे और उसी से उसकी सर्वज्ञता मानी जावे तो ईश्वर के महत्त्व की क्षति[6] होती है, क्योंकि बड़े लोगों का स्वयमेव अपने गुणों का कथन करने में अधिकार नहीं होता है, इसके सिवाय

१—अनुमान से जानने योग्य। २—व्यभिचार न करने वाला। ३—विलक्षणता। ४—उसके विना उसका न होना। ५—किये हुये। ६—हानि।

यह भी बात है कि उसका शास्त्र का बनाना भी तो सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि शास्त्र वर्णस्वरूप है और वर्णों की उत्पत्ति तालु आदि के व्यापार से होती है तथा तालु आदि का व्यापार शरीर में ही हो सकता है और ईश्वर का शरीर मानने में पूर्वोक्त दोष आते हैं, अब यदि उस आगम को दूसरे का बनाया हुआ मानो तो यह प्रश्न होता है कि वह दूसरा सर्वज्ञ है अथवा असर्वज्ञ है? यदि उसे (दूसरे को) सर्वज्ञ मानो तो द्वैत[1] की आपत्ति के द्वारा उसके एकत्त्व के मानने में बाधा आती है किञ्च उसके साधक[2] प्रमाण का विचार करने पर अनवस्था[3] दोष भी आता है, अब यदि उस दूसरे को असर्वज्ञ मानो तो उसके वचन में विश्वास कैसे हो सकता है? किञ्च तुम्हारा माना हुआ जो आगम है वह उलटा उसके बनाने वाले की असर्वज्ञता[4] को सिद्ध करता है क्योंकि वह आगम पूर्वापर विरुद्ध अर्थ का कथन करता है।

फिर हम तुमसे यह भी पूछते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ होकर यदि चराचर को बनाता है तो संसार में उपद्रव करने में स्वतन्त्र लोगों को, कर्तव्य में बाधा डालने वाले राक्षसों को तथा ईश्वर पर ही आक्षेप करने वाले हम लोगों को वह क्यों बनाता है? इन सब बातों से यही निश्चय होता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है।

अब जो तुमने ईश्वर को स्वाधीन अर्थात् स्वतन्त्र माना है सो तुम्हारा यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वह स्वाधीन होकर संसार को बनाता है और तुम उसे परम दयालु भी बतलाते हो तो

१—दो ईश्वरों। २—सिद्धि करने वाले। ३—स्थिति का अभाव। ४—सर्वज्ञ न होने।

फिर वह सुखी और दुःखी आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं से युक्त संसार को क्यों बनाता है, उसे वह सर्वथा सुखी ही क्यों नहीं बनाता है ?

वादी—अजी ! वह ईश्वर जन्मान्तर[1] में सञ्चित[2] अपने अपने शुभ और अशुभ कर्मों से प्रेरित होकर संसार को भिन्न भिन्न दशाओं में बनाता है।

उत्तर—यदि ऐसा है तब तो तुमने स्वतन्त्रता को तो जलाञ्जलि दे दी, क्योंकि त्रिलोकी की विचित्रता को कर्मजन्य[3] मान लेने पर तो तुमने बुद्धिमानी के साथ हमारे ही मत को स्वीकार कर लिया।

किञ्च—यदि वह ईश्वर प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से संसार को बनाता है तब यह बात तो सिद्ध हो गई कि वह जो कुछ चाहता है वह नहीं करता है, जिस प्रकार कुलालदण्ड[4] आदि को नहीं बनाता है, इसी प्रकार कर्म की अपेक्षा से युक्त होकर यदि ईश्वर जगत् का कारण है तो कर्मों को ईश्वरत्व सिद्ध होता है, ईश्वर तो अनीश्वर रूप हो जाता है।

अब जो तुम ईश्वर को नित्य मानते हो, यह भी कथन अपने घर में बैठ कर करना ठीक है; क्योंकि युक्ति और प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं होती है, देखो ! नित्यत्त्व के द्वारा एक रूप होकर वह ईश्वर त्रिभुवन[5] के रचने के स्वभाव से युक्त है, अथवा उक्त स्वभाव से रहित है ? यदि पहिला पक्ष मानो तो जगत् के निर्माण[6] से वह कभी उपरत[7] नहीं हो सकता है, क्योंकि उससे उपरत होने पर उक्त स्वभाव की हानि होती है, इस प्रकार रचनक्रिया का अन्त न होने से एक भी

१—दूसरे जन्म। २—इकट्ठे किये हुए। ३—कर्मों से उत्पन्न। ४—कुम्भार। ५—त्रिलोकी। ६—रचना। ७—निवृत्त।

कार्य की रचना नहीं हो सकती है, देखो! घट पदार्थ अपने प्रारम्भ क्षण से लेकर परिसमाप्ति के उपान्त्य[1] क्षण तक निश्चय नय के अभिप्राय से घट व्यवहार को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वह उस समय तक जल का लाना आदि अर्थक्रिया में साधकतम[2] नहीं है।

अब यदि ईश्वर को उक्त स्वभाव से रहित मानो तो वह कभी संसार को नहीं बना सकता है. क्योंकि उसका जगद्रचना[3] का स्वभाव ही नहीं है।

किञ्च—ईश्वर को एकान्त[4] नित्य स्वरूप मानने पर सृष्टि[5] के समान संहार[6] की भी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि नानारूप कार्यों के करने में अनित्यत्व का दोष आता है, इस विषय में यह भी प्रश्न होता है कि वह ईश्वर जिस स्वभाव से संसार को बनाता है क्या उसी स्वभाव से उसका संहार करता है? यदि उसी स्वभाव से उसका संहार करता है तो सृष्टि की रचना और संहार दोनों ही एक समय में ही होने चाहियें. क्योंकि स्वभाव में अभेद है, इसके सिवाय एक स्वभाव वाले कारण से अनेक स्वभाव वाले कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है यदि वह दूसरे स्वभाव से संहार करता है तो नित्यता की हानि होती है क्योंकि स्वभाव में भेद होना ही अनित्यता का लक्षण है, जैसे कि आहार परमाणुओं से युक्त पार्थिव[7] शरीर प्रति दिन अपूर्व उत्पत्ति के द्वारा स्वभाव में भेद होने से अनित्य होता है।

किञ्च—जगत् की रचना और संहार के लिये ईश्वर में स्वभाव का भेद तुम्हें अभिमत[8] ही है क्योंकि जगत् की रचना में रजोगुण रूप से जगत् के संहार में तमोगुण रूप से तथा जगत् की स्थिति में

१—अन्त के समीप में रहने वाला। २—करण। ३—संसार को बनाने। ४—सर्वथा। ५—संसार की रचना। ६—नाश, प्रलय। ७—पृथ्वी से बना हुआ। ८—अभीष्ट।

सात्त्विक रूप से उसका व्यापार भिन्न भिन्न माना जाता है. इस प्रकार अवस्थाओं में भेद होता है और अवस्थाओं में भेद होने से अवस्था वाले में भी भेद होने से नित्यता की क्षति[1] होती है।

किञ्च—यदि ईश्वर को नित्य भी मान लों तो भी हम यह पूछते हैं कि वह जगत् की रचना में निरन्तर ही चेष्टा क्यों नहीं करता है, यदि यह कहो कि 'वह तो इच्छा के वश होकर जगत् की रचना में चेष्टा करता है' तो हम यह पूछते हैं कि उन इच्छाओं की भी सिद्धि अपनी सत्ता के कारण ही होती है तो वे इच्छायें उस ईश्वर को जगद्रचना[2] में सदैव क्यों नहीं प्रवृत्त करती हैं? इस प्रकार उक्त[3] उपालम्भ[4] ज्यों का त्यों है, इसके सिवाय तुम ईश्वर में बुद्धि आदि आठ गुण[5] मानते हो तो कार्यभेद से अनुमान करने योग्य[6] इच्छायें भी विषमरूप हो जाती हैं, और ऐसा होने से नित्यत्व की हानि को कौन हटा सकता है?

और सुनो! बुद्धिमानों की प्रवृत्ति या तो स्वार्थ से होती है या दया से होती है, अब तुम यह बतलाओ कि ईश्वर का जगत् की रचना में जो व्यापार है वह स्वार्थ से होता है, अथवा दया से होता है, यदि स्वार्थ से मानो तो ईश्वर को तो तुम कृतकृत्य[7] मानते हो तो स्वार्थ से उसकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, तथा दया से भी उसका व्यापार नहीं हो सकता है, क्योंकि दूसरे के दुःख को मिटाने की इच्छा को दया कहते हैं, इसलिये जगत् की रचना से पहिले

१—हानि। २—संसार की रचना। ३—ऊपर कहा हुआ। ४—उलहना। ५—बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये आठ गुण। ६—जानने योग्य। ७—सिद्ध प्रयोजन।

इन्द्रिय शरीर के विषयों की उत्पत्ति न होने से जीवों को दुःख था ही नहीं तो फिर किसके मिटाने की इच्छा दया हो सकती है हाँ संसार की रचना के बाद तो दुःखियों को देख कर दया के मानने में इतरेतराश्रय[1] दोष होता है कि जिसका तुम उत्तर नहीं दे सकते हो। देखो! दया से सृष्टि[2] होती है तथा सृष्टि से दया होती है, इस प्रकार ईश्वर जगत् का बनाने वाला है यह बात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती है।

इतर[3] नैयायिक लोग यह भी मानते हैं कि "चैतन्य आदि तथा रूप आदि धर्म, आत्मा आदि तथा घट आदि धर्मी से अत्यन्त भिन्न हैं तो भी समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध[4] हैं, इसलिये धर्म और धर्मी का व्यवहार होता है" सो उन लोगों का यह मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी का एकान्त[5] भेद मानने पर स्वभाव की हानि होने से धर्म धर्मिभाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है तात्पर्य यह है कि-"इस धर्मी के ये धर्म हैं" तथा "इन धर्मों का आश्रयभूत यह धर्मी है" इस प्रकार सब लोगों में प्रसिद्ध धर्म और धर्मी का व्यवहार सिद्ध नहीं होता है, यदि उन दोनों में अत्यन्त भेद होने पर भी धर्म धर्मिभाव की कल्पना की जावे तो दूसरे पदार्थों के धर्म भी विवक्षित धर्म-धर्मिरूप हो जावेंगे।

वादी—आधार्य और आधारस्वरूप अयुत सिद्ध पदार्थों की प्रतीत का कारण जो सम्बन्ध है उसको समवाय कहते हैं, उसी समवाय सम्बन्ध से धर्म और धर्मी के आपस में भिन्न होने पर भी धर्म और धर्मी का व्यवहार होता है, इसलिये आपका कहा हुआ दोष नहीं आता है।

१—एक की सिद्धि होने से दूसरे का सिद्ध होना। २—संसार की रचना। ३—दूसरे। ४—सम्बन्धयुक्त। ५—सर्वथा।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है, देखो यह धर्मी है, इसके ये धर्म हैं और इनके सम्बन्ध का कारण यह समवाय है, इन तीनों बातों की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती है देखो दो पत्थर के टुकड़ों को जोड़ने वाला राल आदि द्रव्य जिस प्रकार उन दोनों टुकड़ों से भिन्न तृतीय रूप में मालूम पड़ता है इस प्रकार यहाँ पर समवाय का प्रतिभान[1] नहीं होता है किन्तु केवल धर्म और धर्मी का ही प्रतिभान होता है।

फिर देखो ! इस समवाय सम्बन्ध को तुम एक नित्य, सर्वव्यापक और अमूर्त्त मानते हो इसलिये जिस प्रकार घटाश्रित[2] पाकज रूप आदि धर्म घट में समवाय सम्बन्ध से समवेत हैं उसी प्रकार वे पट में भी समवेत क्यों नहीं हैं क्योंकि तुम्हारा माना हुआ समवाय सम्बन्ध एकत्त्व नित्यत्त्व और व्यापकत्त्व से द्वारा सर्वत्र समान है, जिस प्रकार आकाश एक है निक्त्य है, व्यापक है और अमूर्त्त है, इसलिये वह सब सम्बन्धियों से एक साथ ही सामान्यतया[3] सम्बन्ध रखता है उसी प्रकार यह समवाय सम्बन्ध भी सब सम्बन्धियों से एक साथ ही सम्बन्ध क्यों नहीं रखता है ? फिर देखो ! नाश होने वाली एक वस्तु के समवाय के न रहने पर सब वस्तुओं के समवाय का अभाव हो जाना चाहिये यदि तुम यह कहो कि 'भिन्न भिन्न विशेषणों के भेद से यह दोष नहीं आता है" तो ऐसा मानने पर वह अनित्य हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के स्वभाव में भेद है।

अब नैयायिक लोग जो यह मानते हैं कि सत्ता नामक एक भिन्न पदार्थ है, ज्ञान नामक गुण आत्मा से भिन्न है तथा आत्मा के विशेष

१—ज्ञान, प्रतिभास। २—घड़े के आधीन। ३—समानरूप में।

गुण का नाश होना मुक्ति है, सो यह उन लोगों का मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ता भिन्न पदार्थ है, इस बात की सिद्धि नहीं हो सकती है देखो:—

वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय. इन छः पदार्थों को मानते हैं, इनमें से-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, द्रवत्व, गुरुत्व, संस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म और शब्द, ये चौबीस गुण हैं, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं, अत्यन्त व्यावृत्त[1] पिण्डों का जिस कारण से परस्पर में स्वरूप का अनुगम[2] मालूम होता है उस अनुवृत्ति के ज्ञान के हेतु को सामान्य कहते हैं, वह सामान्य दो प्रकार का है-पर और अपर, उनमें से पर सामान्य को सत्ता कहते हैं, इसी का नाम भाव और महासामान्य भी है, क्योंकि द्रव्यत्व आदि अवान्तर[3] सामान्य की अपेक्षा यह अधिक विषय वाला है तथा द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य है इसको सामान्य विशेष भी कहते हैं। देखो! द्रव्यत्व नौओं द्रव्यों में रहने से सामान्य है तथा गुण और कर्मों से व्यावृत्त[4] होने से विशेष है, इसी प्रकार द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा पृथिवीत्व आदि अपर है उसकी अपेक्षा घटत्व आदि अपर है, इसी प्रकार चौबीसों गुणों में रहने से गुणत्व सामान्य है. द्रव्य और कर्म से भिन्न होने से विशेष है, इसी प्रकार गुणत्व की अपेक्षा से रूपत्व आदि विशेष है, रूपत्व आदि की अपेक्षा से नीलत्व आदि विशेष है, इसी प्रकार पाँचों कर्मों में रहने से कर्मत्व सामान्य है, द्रव्य और गुणों से भिन्न होने से वह विशेष है, इसी प्रकार कर्मत्व की अपेक्षा से उत्क्षेपणत्व आदि को जानना चाहिये।

१—भिन्न। २—अन्वय, सम्बन्ध। ३—मध्यवर्ती। ४—पृथग्भूत।

द्रव्य, गुण और कर्म से सत्ता को भिन्न पदार्थ मानने में वे लोग इस युक्ति को कहते हैं कि--"सत्ता द्रव्य रूप नहीं है, अर्थात् द्रव्य से भिन्न है, क्योंकि वह एक द्रव्य वाली है अर्थात् द्रव्यत्त्व के समान एक एक द्रव्य में रहती है अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यत्त्व नौओं में से प्रत्येक द्रव्य में रहता है परन्तु द्रव्य नहीं है किन्तु सामान्य विशेष लक्षण[1] द्रव्यत्व ही है, इसी प्रकार सत्ता को भी जानना चाहिये।

किञ्च-द्रव्य दो प्रकार का है-अद्रव्य और अनेक द्रव्य, इनमें से आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और परमाणु, ये अद्रव्य द्रव्य हैं तथा द्व्यणुक आदि जो स्कन्ध हैं वे अनेकद्रव्य द्रव्य हैं किन्तु एक द्रव्य तो द्रव्य ही नहीं है, सत्ता एक द्रव्य वाली है, इसलिये द्रव्य के लक्षण से विभिन्न होने से वह द्रव्य नहीं हो सकती है, इसी प्रकार सत्ता गुण रूप भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्त्व के समान गुणों में रहती है, यदि सत्ता गुणरूप होती तो वह गुणों में नहीं रहती क्योंकि गुण निर्गुण[2] होते हैं, किन्तु सत्ता तो गुणों में रहती है, क्योंकि "गुण है" इस प्रकार प्रतीति[3] होती है, तथा सत्ता कर्मरूप भी नहीं है क्योंकि वह कर्मत्त्व के समान कर्मों में रहती है, यदि सत्ता कर्मरूप होती तो कर्मों में नहीं रहती, क्योंकि कर्म निष्कर्म[4] हैं, परन्तु कर्मों में तो सत्ता रहती ही है, क्योंकि "कर्म है" इस प्रकार प्रतीति[5] होती है इसलिये सत्ता भिन्न पदार्थ है।

ये लोग विशेष का स्वरूप यह बतलाते हैं कि जो नित्य द्रव्यों में रहते हैं तथा अत्यन्त व्यावृत्ति के कारण हैं वे (विशेष) द्रव्यादि से विलक्षण[6] होने से भिन्न पदार्थ हैं, तथा ये विशेष विशेषरूप ही हैं किन्तु द्रव्यत्वादि के समान सामान्य विशेषरूप नहीं हैं।

१—सामान्य विशेष स्वरूप। २—गुण रहित। ३—ज्ञान। ४—कर्म रहित। ५—ज्ञान। ६—भिन्न।

छठा पदार्थ ये लोग समवाय मानते हैं उसका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि आधार्य और आधार भूत अयुत सिद्ध पदार्थों का[1] इह प्रत्यय का हेतु[2] जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है—जैसे कि "इन तन्तुओं में पट है" इस ज्ञान का जो असाधारण कारण है वही समवाय है कि जिसके कारण से अपने कारण के सामर्थ्य[3] से उत्पन्न होने वाला पट आदि आधार्य तन्तु आदि आधार से सम्बन्ध रहता है, यह समवाय भी द्रव्यादि के लक्षण से भिन्न होने से भिन्न पदार्थ है।

इस प्रकार ये लोग—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों को मानते हैं।

इन लोगों का ज्ञान के विषय में मन्तव्य[4] यह है कि ज्ञान आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, परन्तु वह समवाय सम्बन्ध रूपी उपाधि से आत्मा में समवेत[5] है, यदि ज्ञान से आत्मा को अभिन्न माना जावे तो दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनका उत्तरोत्तर नाश होने पर आत्मा के विशेष गुण बुद्धि आदि नौओं के नाश होने के समय आत्मा का भीतरभिन्न[6] होने से नाश हो जावे, इसलिये ज्ञान आत्मा से भिन्न है।

ये लोग मुक्ति को ज्ञान और सुखरूप नहीं मानते हैं, किन्तु आत्मा के विशेष गुण बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म और संस्कार इन नौ गुणों के अत्यन्त विनाश को मोक्ष कहते हैं, ज्ञान को क्षणिक[7] होने से अनित्य मानते हैं, सुख को

१—अयुत सिद्ध पदार्थों का परस्पर के परिहार (त्याग) से पृथक् आश्रय का सहारा न लेने वाले दो पदार्थों का जो आश्रयाश्रयि-भाव है उसको। २—इस वस्तु में यह वस्तु है इस ज्ञान का। ३—शक्ति। ४—मत। ५—सम्बद्ध। ६—उनसे अभिन्न (सम्मिश्रित) ७—क्षणस्थायी।

विनाशी[1] होने से तथा सातिशय[2] होने से संसारावस्था से भिन्न नहीं मानते हैं, इन दोनों का विनाश होने पर आत्मा का जो अपने रूप से अवस्थान[3] है उसी को मोक्ष मानते हैं।

अब इन लोगों के उक्त मन्तव्यों का परिहार[4] किया जाता है, देखो !

सत्ता को ये लोग केवल द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीन ही द्रव्यों में मानते हैं, इस विषय में हम यह पूछते हैं कि सद्ज्ञान से जब सब ही पदार्थ जाने जाते हैं तो केवल द्रव्य आदि तीन ही पदार्थों में सत्ता का सम्बन्ध क्यों स्वीकार करते हो, सामान्य आदि तीन पदार्थों में भी सत्ता क्यों नहीं मानते हो ? देखो सत्ता का अर्थ अस्तित्त्व है और वह वस्तु का स्वरूप है तथा सामान्यतया[5] सब ही पदार्थों में है तो फिर उसको सब पदार्थों में मानना चाहिये।

इसके सिवाय इन लोगों ने जो द्रव्य आदि तीन पदार्थों में मुख्य सत्ता का सम्बन्ध माना है, सो उनका यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धि नहीं होती है, देखो ! यदि द्रव्य आदि से सत्ता अत्यन्त भिन्न है तो द्रव्य आदि असद्रूप[6] ही हो जावेंगे, यदि तुम यह कहो कि "सत्ता के योग से उनमें अस्तित्त्व[7] है" तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि असत् पदार्थों में सत्ता के योग से अस्तित्त्व कैसे हो सकता है ? तथा जो पदार्थ सद्रूप[8] हैं उनमें सत्ता का योग मानना व्यर्थ है।

अब जो तुम लोग ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानते हो सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से ज्ञान से आत्मा के विषय का ही

१—विनाश वाला। २—अतिशय के सहित। ३—स्थिति। ४—खण्डन। ५—सामान्य रीति से। ६—अविद्यमानरूप। ७—विद्यमानता। ८—विद्यमान रूप।

परिच्छेद[1] नहीं हो सकता है जैसे कि चैत्र के ज्ञान से मैत्र के विषय का परिच्छेद नहीं होता है, अब यदि तुम यह कहो कि "जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान समवेत है वही भाव[2] के अवभास[3] को करता है" तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम समवाय को एक नित्य और व्यापक मानते हो तो फिर ऐसा होने से इसकी सब ही जगह एकसी वृत्ति है, तथा समवाय के समान आत्मा भी व्यापक है इसलिये एक ज्ञान से सब के विषयों का बोध होना चाहिये, जिस प्रकार घट में रूप आदि समवाय सम्बन्ध से समवेत हैं, उनका विनाश होने पर उनके आश्रय घट का भी विनाश हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा में समवेत है और वह क्षणिक[5] है, इसलिये उसका विनाश होने पर आत्मा के भी विनाश की आपत्ति होने से अनित्य होने का दोष आता है।

वादी—आत्मा कर्त्ता[6] है तथा ज्ञान करण[7] है तथा कर्त्ता में और करण में भेद होता है, इस बात को जगत् जानता है जैसे कि बढ़ई और बसूले में भेद होता है, तो फिर ज्ञान और आत्मा में अभेद कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारा दृष्टान्त विषम[8] है, देखो ! बसूला बाहरी करण है तथा ज्ञान भीतरी करण है तो फिर इन दोनों में साधर्म्य[9] कैसे हो सकता है हाँ यदि तुम किसी भीतरी करण को सर्वथा भिन्न बतला सको तब तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में साधर्म्य हो सकता है, परन्तु यह बात है नहीं, बाहरी करण में स्थित सब ही धर्म आन्तर[10] विषय में नहीं घट सकते हैं, यदि

१—निश्चय। २—सत्ता। ३—प्रकाश। ४—विद्यमानता। ५—क्षणस्थायी। ६—करने वाला। ७—साधन। ८—विपरीति। ९—समान धर्म का होना। १०—भीतरी।

ऐसा न मानो तो-"देवदत्त दीपक से आँख से देखता है" इस विषय में भी दीपादि के समान आँख से भी देवदत्त का सर्वथा भेद होना चाहिये, और ऐसा होने पर लोक प्रतीति[1] में बाधा आती है।

वादी—ज्ञान और आत्मा का अभेद मानने पर कर्तृ करण भाव की सिद्धि कैसे होगी।

उत्तर—देखो! जिस प्रकार "सर्प अपने को अपने से लपेटता है" यहाँ पर अभेद होने पर कर्तृ करण भाव होता है उसी प्रकार से ज्ञान और आत्मा में जान लेना चाहिये।

वादी—"मैं ज्ञानवान् हूं" इत्यादि प्रतीति[2] होती है इसलिये आत्मा और ज्ञान में भेद ही सिद्ध होता है, किन्तु अभेद सिद्ध नहीं होता है, अन्यथा 'धनवान् है" इस प्रतीति से धन और धनवान् में भी भेद के अभाव का दोष आवेगा।

उत्तर—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि "मैं ज्ञानवान् हूं" इस बात की प्रतीति तुम्हारे मत में आत्मा नहीं करता है, क्योंकि तुम उसे घट के समान एकान्ततया[3] जड़रूप मानते हो, अब यह सोचो कि आत्मा जड़ भी हो और "मैं ज्ञानवान् हूं" यह प्रतीति भी हो, भला यह कैसे हो सकता है? इस बात का तुम ही निर्णय करो, भला जड़ आत्मा को यह प्रतीति कैसे हो सकती है कि मैं ज्ञानवान् हूं, देखो! मैं ज्ञानवान् हूं-यह प्रतीति ज्ञान नामक विशेषण के ग्रहण के विना नहीं हो सकती है।

अब तुम लोग जो मुक्ति को ज्ञान और सुखरूप नहीं मानते हो और उसके विषय में सन्तान होने से यह अनुमान प्रमाण कहते हो, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में हम तुम से प्रथम—तो यही

१—लोगों के अनुभव। २—अनुभव। ३—सर्वथा।

पूछते हैं कि यह जो सन्तानत्त्व है वह स्वतन्त्र है अथवा दूसरे दूसरे पदार्थों की उत्पत्तिमात्र है, अथवा एक के आश्रय से दूसरे दूसरे की उत्पत्तिस्वरूप है इनमें से यदि प्रथम पक्ष को मानो तो वह व्यभिचारी[1] है, क्योंकि दूसरों दूसरों के उत्पन्न करने वाले घट और पट आदि को सन्तानत्त्व होने पर अत्यन्त विनाश नहीं होता है। अब यदि दूसरे पक्ष को मानो तो उस प्रकार का सन्तानत्त्व दीपक में नहीं है, इसलिये दृष्टान्त साधन से विकल[2] है तथा हेतु भी परमाणु और पाकजरूपादि के साथ में व्यभिचारी है, क्योंकि उनमें उस प्रकार का सन्तानत्त्व होने पर भी अत्यन्त विनाश नहीं होता है, किञ्च सन्तानत्त्व भी होगा और अत्यन्त अनुच्छेद[3] भी होगा, क्योंकि विपर्यय[4] में बाधक प्रमाण नहीं है, इस प्रकार विपक्ष[5] से व्यावृत्ति[6] में सन्देह होने से तुम्हारा कहा हुआ हेतु अनैकान्तिक[7] भी है, किञ्चस्याद्वाद वादियों के के मत में किसी वस्तु में अत्यन्त उच्छेद[8] नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य-रूप से स्थितिशील[9] ही विद्यमान भाव उत्पत्ति और विनाश वाले होते हैं, इसलिये तुम्हारा कहा हुआ हेतु विरुद्ध[10] भी है इस प्रकार तुम्हारे कहे हुए अनुमान से बुद्ध्यादि गुणों के उच्छेद रूपवाली सिद्धि सिद्ध नहीं होती है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसारी आत्मा को परस्पर में अनुषक्त[11] सुख और दुःख होते हैं उस प्रकार वे मुक्तात्मा को नहीं होते हैं, किन्तु केवल सुख ही होता है, क्योंकि मुक्तात्मा के दुःखमूल[12] शरीर नहीं होता है, किन्तु सुख तो आत्मस्वरूप से ही अवस्थित[13] होता है,

---

१—व्यभिचार वाला। २—रहित। ३—अविनाश। ४—विपरीत दशा में। ५—साध्य से रहित पदार्थ। ६—निवृत्ति। ७—व्यभिचारी। ८—विनाश। ९—स्थिति स्वभाव वाले। १०—विपक्ष में रहने वाले। ११—सम्बद्ध। १२—दुःख का कारण। १३—विद्यमान।

तथा अपने स्वरूप में जो अवस्थान[1] है वही मोक्ष है, तथा उक्त सुख को दुःखाभावरूप नहीं जानना चाहिये, क्योंकि वह मुख्य सुख का वाचक[2] है और इस विषय में कोई भी बाधक नहीं है, किन्तु ये लोग जिस प्रकार के मोक्ष को मानते हैं वह पुरुषों का उपादेय[3] नहीं हो सकता है, भला ऐसा कौन पुरुष होगा कि जो अपने को शिला के समान सर्व सुखों के अनुभव से रहित बनाने का यत्न करेगा, क्योंकि ऐसा करना तो एक प्रकार से दुःख का ही अनुभव है, देखो ! सुख और दुःख इन दोनों में से एक के न होने पर दूसरा अवश्य होता है।

किञ्च-उपाधि के सहित और अवधि वाले तथा परिमित[4] आनन्द वाले स्वर्ग से भी मुक्ति सुख अधिक होता है, इसीलिये बुद्धिमान् लोग उससे विपरीत आनन्द से युक्त तथा प्रदीप्त[5] ज्ञान से युक्त मोक्ष को मानते हैं, यदि मोक्षावस्था में आत्मा पाषाण[6] के समान जड़ रूप ही रहे तो ऐसे अपवर्ग[7] से क्या हो सकता है, इसकी अपेक्षा तो संसार ही अच्छा है कि जिसमें कभी कभी तो दुःख से कलुषित[8] भी कुछ तो सुख मिलता है, अब इस बात को तुम ही सोच लो कि थोड़े सुख का अनुभव अच्छा है अथवा सर्व सुख का नाश अच्छा है ?

वादी—हम जिस प्रकार के मोक्ष को मानते हैं उस मोक्ष में बुद्धिमानों को लाभ अधिक है, बुद्धिमान लोग यह विचार करते हैं कि संसार में दुःख से रहित सुख नहीं है, तथा दुःख अवश्य त्याज्य[9] है, परन्तु एक पात्र में रक्खे हुए मिश्रित[10] विष और मधु में से जिस प्रकार विष अलग नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार संसारी दुःख भी

१—स्थिति । २—बतलाने वाला । ३—ग्रहण करने योग्य । ४—परिमाणयुक्त । ५—प्रकाश वाले । ६—पत्थर । ७—मोक्ष । ८—दूषित । ९—छोड़ने योग्य । १०—मिले हुये ।

अलग नहीं किया जा सकता है, इसीलिये संसार से मोक्ष अच्छा है, क्योंकि इसमें दुःख बिलकुल नहीं रहता है, देखो! कभी कभी होने वाली इतनी सुख मात्रा का त्याग करना अच्छा है परन्तु उसके लिये बड़े दुःख भार का सहना अच्छा नहीं है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन है कि सांसारिक[1] सुख मधु से लिप्त[2] तलवार की धारा के चाटने के समान दुःख रूप ही है, इसलिये मुमुक्षु[3] लोग उसके छोड़ने की इच्छा करते हैं किन्तु यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि वे मुमुक्षु लोग आत्यन्तिक[4] सुख की प्राप्ति की इच्छा करके ही सांसारिक दुःख को छोड़ने की इच्छा करते हैं, तात्पर्य यह है कि यों तो संसार में भी विषयों की निवृत्ति से होने वाला जो सुख है वह अनुभव सिद्ध ही है, अब यदि वह सुख मोक्ष में विशिष्ट[5] न हो तब तो मोक्ष भी दुःख रूप ही हो जाता है देखो! एकत्र[6] मिले हुए जो विष और मधु का त्याग किया जाता है वह भी सुख विशेष की प्राप्ति की इच्छा से ही किया जाता है।

किञ्च—जिस प्रकार प्राणियों को संसारावस्था में सुख अभीष्ट[7] होता है तथा दुःख अनिष्ट[8] होता है उसी प्रकार मोक्षावस्था में भी दुःख की निवृत्ति अभीष्ट होती है तथा सुख की निवृत्ति तो अनिष्ट ही होती है, अब जैसा मोक्ष तुमने माना है यदि वह वैसा ही हो तो बुद्धिमानों की उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु बुद्धिमानों की प्रवृत्ति मोक्ष में होती है इसलिये यह बात सिद्ध होती है कि मोक्ष सुखानुभवरूप एक स्वभाव वाला है क्योंकि यदि वह ऐसा न होता तो बुद्धिमानों की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती।

१—संसार का। २—छिपी हुई। ३—मोक्ष की इच्छा वाले। ४—सर्वथा। ५—उत्तम, अधिक। ६—इकट्ठे ७—प्रिय। ८—अप्रिय।

वादी—यदि सुखानुभवरूप एक स्वभाव वाला मोक्ष माना जावे तो राग के द्वारा प्रवृत्ति करने वाला मुमुक्षु[1] पुरुष मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि रागियों का मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि राग तो बन्धनरूप है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सांसारिक[2] सुख के लिये ही जो राग है वह बन्धन स्वरूप है, क्योंकि वह विषयादि में प्रवृत्ति का कारण है परन्तु मोक्ष सुख के लिये जो राग है वह विषयादि में प्रवृत्ति की निवृत्ति का कारण है इसलिये वह बन्धन स्वरूप नहीं है, देखो ! जो पुरुष परकोटि पर आरूढ़ हो गया है उसका राग केवल स्पृहा मात्र होता है और वह भी निवृत्त होजाता है, देखो शास्त्र में कहा है कि श्रेष्ठ मुनि मोक्ष और भव में सर्वत्र स्पृहा रहित होता है[3], यदि ऐसा न माना जावे तो तुम्हारे पक्ष में भी दुःख निवृत्ति स्वरूप मोक्ष के स्वीकार करने पर दुःख विषयक कषायों[4] के कालुष्य[5] को कौन हटा सकता है इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि सब कर्मों के क्षय[6] से मोक्ष होता है तथा वह परम सुखानुभव रूप है किन्तु वह बुद्धि आदि गुणों का उच्छेदरूप[7] नहीं है।

और सुनो ! कथञ्चित तो हम भी इनका उच्छेद[8] मानते ही हैं—देखो बुद्धि शब्द से ज्ञान का ग्रहण होता है और वह (ज्ञान) मति, श्रुत अवधि, मनः पर्याय और केवल भेद से पाँच प्रकार का है, इनमें से पहिले जो चार ज्ञान हैं वे क्षायोपशमिक[9] होने से केवल ज्ञान की उत्पत्ति के समय में ही नष्ट हो जाते हैं किन्तु केवल ज्ञान तो सर्व द्रव्यों और पर्यायों में स्थिति है और वह क्षायिक[10] होने से

१—मोक्षाभिलाषी। २—संसार के। ३—मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः। ४—क्रोधादि ५—मलीनता। ६—नाश। ७—नाशस्वरूप। ८—नाश। ९—कर्मों के क्षयोपशम से पैदा होने वाला। १०—कर्मों के क्षय से पैदा होने वाला।

निष्कलङ्क[1] आत्मस्वरूप होने के कारण मोक्षावस्था में भी रहता है परन्तु मोक्षावस्था में विषयजन्य[2] सुख नहीं रहता है क्योंकि उसका कारण वेदनीय कर्म नहीं है किन्तु जो सुख निरतिशय[3], अक्षय[4] अनपेक्ष[5] और अनन्त है वह तो खूब रहता है तथा दुःख भी अधर्ममूलक[6] है इसलिये अधर्म का नाश होने से उसका भी नाश हो जाता है।

वादी—अजी! सुख भी तो धर्ममूलक[7] है इसलिये धर्म का उच्छेद होने से मोक्षावस्था में वह भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि पुण्य और पाप के क्षय का नाम मोक्ष[8] है ऐसा शास्त्र में कहा है।

सिद्धान्तकार—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है क्योंकि वैषयिक[9] जो सुख है वही धर्ममूलक है तो भले ही उसका उच्छेद हो जावे किन्तु अनपेक्ष सुख का तो उच्छेद नहीं हो सकता है।

इच्छा और द्वेष, ये दोनों मोह के भेद हैं और उस (मोह) का समूल नाश होजाता है, इसलिये उसका नाश होने से इच्छा और द्वेष का भी नाश हो जाता है तथा कृतकृत्य[10] होने के कारण क्रिया व्यापार विषयक प्रयत्न तो है ही नहीं, किन्तु हाँ दानादि लब्धि के समान वीर्यान्तराय के क्षय से उत्पन्न हुआ प्रयत्न तो है ही, परन्तु कृतार्थ होने के कारण उसका कहीं भी उपयोग नहीं होता है तथा धर्म और अधर्म का अर्थात् पुण्य और पाप का तो विनाश है ही, क्योंकि उनका उच्छेद[11] होने पर ही मोक्ष होता है. संस्कार जो है वह मतिज्ञान

१—दोष रहित। २—विषयों से पैदा होने वाला ३—सर्वोत्तम। ४—अविनाशी। ५—अपेक्षा से रहित। ६—अधर्म से पैदा होने वाला। ७—धर्म से पैदा होने वाला। ८—पुण्यपापक्षयोमोक्षः। ९—विषयों से पैदा होने वाला। १०—कृतार्थ। ११—नाश।

का ही भेद है तथा उनका अभाव तो मोह के क्षय के अनन्तर ही क्षीण[1] होने से हो जाता है।

इसलिये तुम जो मुक्ति को ज्ञानमयी[2] और आनन्दमयी[3] नहीं मानते हो यह तुम्हारा कथन युक्ति से रहित है।

पूर्वोक्त वादी लोग यह भी मानते हैं कि "आत्माकाय प्रमाण[4] नहीं है किन्तु वह विभु अर्थात् व्यापक है" सो यह भी उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा जिस पदार्थ के जहाँ गुण देखे जाते हैं वहीं उनकी सत्ता[5] होती है, देखो! घट आदि के रूपादि गुण जिस स्थान में पाये जाते हैं वहीं पर उनकी सत्ता जानी जाती है किन्तु अन्यत्र[6] नहीं जानी जाती है इसी प्रकार आत्मा के गुण चैतन्य आदि भी देह में ही देखे जाते हैं किन्तु देह से बाहर नहीं देखे जाते हैं इसलिये आत्मा काय प्रमाण ही है।

वादी—पुष्प आदि के गन्ध आदि गुण स्थितिस्थान[7] से अन्यत्र भी दीख पड़ते हैं इसलिये आपका उक्त कथन ठीक नहीं है।

उत्तर—हमारा कथन तो ठीक है किन्तु तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पुष्प आदि के गन्ध आदि गुण स्थितिस्थान से जो अन्यत्र दीख पड़ते हैं उससे हमारे कथन में व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि गन्ध आदि के पुद्गल तदाश्रय[8] हैं, वे वैश्रसिकी[9] गति से अथवा प्रायोगिकी[10] गति से चलते हैं इसलिये उनके ग्रहण को करने वाली नासिका आदि स्थान तक उनकी गति हो सकती है, इसलिये हमारा कथन बाधा रहित है।

१—नष्ट, दुर्बल। २—ज्ञानस्वरूप। ३—आनन्दस्वरूपा। ४—शरीर प्रमाण वाला। ५—विद्यमानता। ६—और जगह। ७—ठहरने के स्थान। ८—इसके सहारे। ९—स्वाभाविकी। १०—पुरु[illegible] गति।

वादी—मन्त्र आदि भिन्न स्थान में स्थित होते हैं तो भी उनका आकर्षण और उच्चाटन आदि गुण सौ योजन में भी आगे देखा जाता है, इसलिये आपके कथन में बाधा आती है।

उत्तर—तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आकर्षण आदि गुण मन्त्रों का नहीं है किन्तु वह उनके अधिष्ठातृ[1] देवों का है उन्हीं देवों का गमन आकर्षणीय[2] और उच्चाटनीय[3] व्यक्ति के स्थान तक होता है, अतः तुम्हारा उक्त उपालम्भ[4] ठीक नहीं है क्योंकि गुण गुणी को छोड़ कर कहीं नहीं रहते हैं, बस इस कथन से सिद्ध हो गया कि आत्मा विभु[5] नहीं है किन्तु कायप्रमाण ही है क्योंकि आत्मा के जो बुद्धि आदि गुण हैं उन्हें शरीर से बाहर कोई नहीं मानता है।

वादी—यदि आत्मा को आप शरीर परिमाण मानते हैं तो मूर्त्त[6] होने के कारण उसका शरीर में अनुप्रवेश नहीं हो सकता है, क्योंकि मूर्त्त का मूर्त्त में अनुप्रवेश होने में विरोध आता है तो फिर ऐसी दशा में सब ही शरीर आत्मा रहित ही होने चाहियें।

उत्तर—पहिले तो तुम यह बतलाओ कि मूर्त्त किस को कहते हो असर्वगत[7] द्रव्यपरिमाण को मूर्त्त मानते हो अथवा रूपादि वाले को मूर्त्त मानते हो? इनमें से यदि प्रथम पक्ष को मानो तो उससे कोई दोष नहीं आता है उसे तो हम भी मानते हैं किन्तु यदि दूसरे पक्ष को मानो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्याप्ति[8] नहीं मिलती है, देखो! जो असर्वगत है वह नियम से रूपादिवाला ही हो यह बात नहीं है, क्योंकि मन असर्वगत है तो भी वह रूपादिवाला नहीं है, इस बात को तुम भी

१—स्वामी। २—आकर्षण करने योग्य। ३—उच्चाटन करने योग्य। ४—उलहना। ५—व्यापक। ६—मूर्त्तिवाला। ७—सब जगह न मौजूद। ८—साहचर्य नियम।

मानते हो इसलिये आत्मा के शरीर में अनुप्रवेश होने में कोई दोप नहीं आता है, तो फिर शरीर आत्मरहित कैसे हो सकता है ?

वादी—आत्मा को शरीर परिमाण मानने पर बालशरीर परिमाण[1] वाले आत्मा को आप युवा के शरीर परिमाण वाला जो मानते हो सो क्या तत्परिमाण[2] को छोड़ कर मानते हो अथवा उसको न छोड़ कर मानते हो यदि पूर्व परिमाण को छोड़ कर मानते हो तब तो शरीर के समान आत्मा भी अनित्य हो जावेगा तथा परलोकादि के अभाव[3] का भी दोप आवेगा, अब यदि उस पूर्व शरीर परिमाण का त्याग न करके उसे युवा शरीर परिमाण वाला मानो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के समान पूर्व परिमाण का त्याग न करने पर उसका उत्तर[4] शरीर परिमाण हो ही नहीं सकता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि युवा पुरुष के शरीर के परिमाण की दशा में बाल शरीर के परिमाण का त्याग करने पर आत्मा का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता है, जैसे कि फण-रहित अवस्था के उत्पन्न होने पर सर्प का नाश नहीं होता है, तो फिर परलोक के अभाव का दोष कहाँ से आता है क्योंकि पर्याय की अपेक्षा से वह नित्य है।

वादी—आत्मा को शरीर परिमाण मानने पर शरीर के खण्डन में आत्मा का भी खण्डन होना चाहिये।

उत्तर—इसमें कौन क्या कहता है ? क्योंकि शरीर का खण्डन होने पर आत्मा का भी खण्डन कथञ्चित्[5] माना ही जाता है, देखो ! शरीर से सम्बद्ध[6] आत्मप्रदेशों से कुछ आत्मप्रदेशों के खण्डित शरीर

१—बालक के शरीर के परिमाण से युक्त। २—पूर्वपरिमाण। ३—असत्ता। ४—पिछला। ५—किसी प्रकार, सर्वथा नहीं। ६—सम्बन्ध रखने वाला।

प्रदेश में रहने से आत्मा का खण्डन होता है और वह यहाँ है ही, यदि ऐसा न माना जावे तो शरीर से पृथक् हुए अवयव में जो कम्प[1] दीख पड़ता है वह नहीं होना चाहिये।

किञ्च खण्डित[2] अवयव[3] में अनुप्रविष्ट हुए आत्मप्रदेश के पृथक् आत्मा होने का भी प्रसङ्ग नहीं आता है, क्योंकि उसी में अनुप्रवेश होता है, तथा एक सन्तान में अनेक आत्मा नहीं होते हैं, यदि ऐसा माना जावे तो अनेक पदार्थों के ज्ञापक[4] ज्ञान एक प्रमाता[5] के आधारभूत होते हैं इसलिये प्रतिभास[6] के अभाव का प्रसंग आ जावेगा, जिस प्रकार से दूसरे शरीर में स्थित अनेक ज्ञानों से जानने योग्य पदार्थ का ज्ञान होता है।

वादी खण्डित हुए दो अवयवों का पीछे संघटन[7] कैसे हो जाता है?

उत्तर—इसलिये कि हम एकान्त नहीं मानते हैं, तथा पद्मनाल[8] के तन्तु[9] के समान छेद भी मानते हैं, तथाभूत अदृष्ट के कारण उनका संघटन तो अविरुद्ध[10] ही है, इसलिये आत्मा को तनुपरिमाण[11] ही मानना चाहिये किन्तु व्यापक नहीं मानना चाहिये। अब अक्षपादमतानुयायी[12] लोगों के मन्तव्य के विषय में कुछ विचार किया जाता है—

ये लोग सोलह पदार्थों को मानते हैं इनका कथन है कि—"प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, वितर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान, इन

१—काँपना। २—कटे हुए। ३—भाग। ४—बतलाने वाला। ५—जानने वाला। ६—प्रकाश। ७—मिलाप। ८—कमल की डंडी। ९—धागे। १०—विरोध रहित। ११—शरीर प्रमाण वाला। १२—गौतम दर्शन (न्याय दर्शन) के कर्त्ता का नाम गौतम और अक्षपाद है।

सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है" यह इन लोगों का मन्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि इनके व्यस्तों[1] के अथवा समस्तों[2] के ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि क्रिया से रहित ज्ञानमात्र से मुक्ति हो ही नहीं सकती है।

प्रथम पदार्थ प्रमाण का ये लोग लक्षण यह कहते हैं कि पदार्थ की उपलब्धि[3] का जो हेतु है वह प्रमाण है, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थ की उपलब्धि में हेतुत्व यदि निमित्तत्त्व मात्र है तो वह तो सब कारकों में भी पाया जाता है तो फिर कर्त्ता और कर्म आदि कारक भी प्रमाण हो जावेंगे।

प्रमेय को इन लोगों ने आत्मा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, फल, दुःख और अपवर्ग के भेद से बारह प्रकार का कहा है, सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति दोष, फल और दुःख, इनका आत्मा में ही अन्तरभाव हो जाता है, क्योंकि संसारी आत्मा तो कथञ्चित्[4] तद्रूप[5] ही होता है तथा आत्मा तो प्रमेय ही नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो प्रमाता[6] माना जाता है तथा इन्द्रिय, बुद्धि और मन, ये करण रूप होने से प्रमेय नहीं हो सकते हैं, दोष जो हैं वे तो राग, द्वेष और मोह हैं, वे प्रवृत्ति से अलग नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे ही लोग शुभाशुभ फल वाले बीस प्रकार के वाक् मन और काय के व्यापार को प्रवृत्ति मानते हैं, रागादि दोष मनो व्यापार रूप हैं दुःख का तथा इन्द्रियों के विषय शब्दादिकों का फल में ही अन्तर्भाव हो जाता है, प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्मा के ही परिणामान्तर[7] रूप हैं, इसलिये उनको आत्मा से पृथक् मानना उचित नहीं है, इसलिये ये लोग जो बारह प्रकार का प्रमेय

१—पृथक् पृथक् के। २—मिश्रितों के। ३—ग्रहण, ज्ञान। ४—किसी प्रकार। ५—शरीरादिरूप। ६—ज्ञाता। ७—भिन्न परिणाम रूप।

मानते हैं सो उनका यह कथन केवल कथनमात्र है, प्रमेय का ठीक लक्षण तो यह है कि द्रव्य और पर्याय स्वरूप जो वस्तु है वह प्रमेय है, क्योंकि इस लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं आता है।

अब शेष जो संशय आदि चौदह पदार्थ हैं उनके विषय में भी विचार करने पर उनकी सिद्धि नहीं होती है।

अब पूर्व मीमांसकों के मन्तव्य का कुछ उल्लेख किया जाता है—

ये लोग कहते हैं कि लालच के कारण अथवा व्यसन के कारण जो हिंसा की जाती है वही अधर्म का कारण है क्योंकि उक्त हिंसा प्रमाद[1] से होती है किन्तु वेद में कही हुई जो हिंसा है वह तो धर्म का कारण है, क्योंकि उससे देवता अतिथि और पितरों की प्रीति होती है, देखो! वृष्टि आदि फल होते हैं इसका कारण यही है कि उन उन यज्ञों से प्रसन्न हुए देवता अनुग्रह करके उन्हीं फलों को देते हैं, इसी प्रकार त्रिपुरार्णव ग्रन्थ में कहे हुये जांगल छगल का होम करने से परराष्ट्र का जो वशीकरण होता है वह यज्ञ से प्रीणित[2] देव की कृपा से ही होता है, इसके सिवाय अतिथि की प्रीति तो मधुपर्क संस्कार आदि के समास्वाद से होती है जो कि प्रत्यक्ष ही है, एवं भिन्न भिन्न भेंट और श्राद्ध आदि के विधान से प्रसन्न हुए पितृ लोग भी अपने सन्तानों की वृद्धि को करते हैं जो कि प्रत्यक्ष ही दीखती है इत्यादि।

इन लोगों का यह कथन सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि वेद प्रतिपादित[3] हिंसा भी धर्म कारण नहीं हो सकती है, देखो! यदि हिंसा है तो वह धर्म का कारण कैसे है? यदि धर्म का कारण है तो हिंसा कैसे है?

१—असावधानता। २—तृप्त, प्रसन्न। ३—वेद में कही हुई।

भला कहीं माता होकर वन्ध्या हो सकती है और वन्ध्या होकर माता हो सकती है, ये लोग हिंसा को कारण और धर्म को उसका कार्य मानते हैं परन्तु ऐसा मानना अत्यन्त सदोष[1] है, क्योंकि जो वस्तु जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ घटती है वह उसका कार्य होती है जैसे कि मृतपिण्ड आदि का कार्य घट आदि होता है, परन्तु धर्म हिंसा से ही होता हो, यह प्रतीति[2] का विषय नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो तपश्चर्या दान और ध्यान आदि धर्म के कारण नहीं हो सकेंगे।

वादी—हम सामान्यतया[3] हिंसा को धर्म का कारण नहीं मानते हैं किन्तु विशिष्ट[4] हिंसा को ही धर्म का कारण मानते हैं तथा विशिष्ट हिंसा वही है जो कि वेद में कही गई है।

उत्तर—हम तुम से यह पूछते हैं कि वेदविहित[5] जो हिंसा है वह वध्य[6] जीवों के मरण के अभाव से क्या धर्म का कारण है अथवा मरने पर भी आर्तध्यान के न होने से उनके सुगतिलाभ के द्वारा वह धर्म का कारण है, इनमें से यदि पहिले पक्ष को मानो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उनका प्राणत्याग तो साक्षात् ही देखा जाता है, तथा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्तियाँ दुर्लक्ष्य[7] होती हैं इसलिये आर्त्तध्यान का न होना कथनमात्र है, उल्टा "हा कष्ट है, कोई भी दयालु पुरुष शरण नहीं देता है" इस प्रकार अपनी भाषा में वे दीनतापूर्वक विलाप करते हैं अतः मुख की दीनता तथा नेत्रों की चंचलता आदि चिह्नों के देखने से उनमें दुर्ध्यान का होना स्पष्ट ही देखा जाता है।

१—दोषयुक्त। २—अनुभव, ज्ञान। ३—साधारण रीति से। ४—विशेष प्रकार की। ५—वेद में कही हुई। ६—मारने योग्य। ७—कठिनता से जानने योग्य।

वादी – जिस प्रकार लोहे का गोला भारी होने से जल में डूब जाता है परन्तु जब उसके पतले पतले पत्र बना लिये जाते हैं तो वह जल के ऊपर तिरने लगता है जिस प्रकार मारने वाला भी विष मन्त्र आदि से संस्कार किया हुआ गुणकारी[1] हो जाता है तथा जिस प्रकार जलाने के स्वभाव से युक्त अग्नि मन्त्रादि के प्रभाव से नष्टशक्ति[2] होकर नहीं जलाती है उसी प्रकार मन्त्रादि की विधि से संस्कार हो जाने से वेद में कही हुई हिंसा से दोष नहीं होता है तथा वह हिंसा निन्द्य[3] भी नहीं मानी जाती है क्योंकि उक्त हिंसा के करने वाले याज्ञिक[4] लोगों की संसार में पूजा होती है।

उत्तर—तुम्हारा उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषमता[5] के द्वारा तुम्हारे कहे हुए दृष्टान्त साधकतम[6] नहीं हैं, देखो ! लोहे के गोले आदि पत्रादि रूप भिन्नभाव[7] को प्राप्त होकर पानी में तिरने आदि क्रिया में समर्थ होते हैं, परन्तु वैदिक मन्त्रों के संस्कार की विधि से भी मारे जाते हुए पशुओं की वेदना[8] की अनुत्पत्ति[9] आदि रूप कोई भावान्तर-प्राप्ति[10] प्रतीति[11] नहीं होती है।

वादी – अजी ! मारने के बाद वे देवभाव को प्राप्त हो जाते हैं, यही भावान्तर प्राप्ति है।

उत्तर—तुम्हारे इस कथन में प्रमाण क्या है सो तो कहो ?—प्रत्यक्षप्रमाण तो है नहीं, क्योंकि वह तो सम्बन्ध से युक्त वर्त्तमान पदार्थ को बतलाता है, तथा अनुमान प्रमाण भी नहीं है क्योंकि उसमें संबद्ध[12] कोई लिङ्ग नहीं दीखता है, तथा आगम प्रमाण भी नहीं है,

1—गुण (लाभ) करने वाला। 2—शक्ति रहित। 3—निन्दा के योग्य। 4—यज्ञकर्ता। 5—असमानता। 6—साधन (साध्य की) सिद्धि करने वाले। 7—भिन्नरूप। 8—पीड़ा। 9—उत्पन्न न होना। 10—दूसरे स्वरूप को प्राप्त होना। 11—ज्ञान। 12—सम्बन्धयुक्त।

क्योंकि आगम तो अब तक विवादास्पद[1] है, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण तो अनुमान के ही अन्तर्गत हैं, इसलिये अनुमान की प्रवृत्ति न होने से उनकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

वादी--वैदिक विधि से पशुओं को मारने वाले पुरुषों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसलिये वैदिकी हिंसा निर्दोष[2] है।

उत्तर--यदि हिंसा से भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है तब तो शौनिक[3] आदि को भी स्वर्ग प्राप्ति होने से नरकपुर की प्रतोलियाँ[4] बिलकुल ही ढकी पड़ी रहेंगी।

किञ्च--अपरिचित[5], अस्पष्ट चैतन्य और उपकार न करने वाले पशुओं की हिंसा से यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो परिचित स्पष्ट[6] चैतन्य और अत्यन्त उपकारी माता पिता आदि के मारने से यज्ञ करने वाले लोगों को अधिकतर[7] पद की प्राप्ति होना चाहिये।

वादी--मणि, मन्त्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य[8] होता है, यह कहा गया है, इसलिये वैदिक मन्त्रों का भी अचिन्त्य प्रभाव होने से उनसे संस्कार किये हुए पशु के मारने से स्वर्ग की प्राप्ति हो ही सकती है।

उत्तर--यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस संसार में विवाह, गर्भाधान और जातकर्मादि कार्यों में वैदिक मन्त्रों का व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अदृष्ट[9] स्वर्गादि के विषय में भी उनके व्यभिचार का अनुमान होता है, देखो! वेदोक्त मन्त्रों के संस्कार से विशिष्ट[10] जनों के लिये भी विवाहादि के पश्चात् वैधव्य[11], अल्पायु[12] का होना

१--विवाद का स्थान। २--दोषरहित। ३--चाण्डाल। ४--गैरोलें, पोलें। ५--परिचय रहित। ६--परिचय वाले। ७--ज़्यादातर। ८--न सोचने योग्य। ९--न दीखने वाले १०--युक्त ११--विधवा होना। १२--छोटी अवस्था।

तथा दरिद्रता[1] आदि उपद्रवों की पीड़ायें सैकड़ों दीख पड़ती हैं, तथा यह भी देखा जाता है कि जिनका वेदोक्त मन्त्रों से संस्कार नहीं किया गया है वे लोग विवाहादि के पश्चात् सौभाग्यशाली[2], दीर्घायु[3] ऐश्वर्यवान् होते हैं।

वादी—वैधव्य और अल्पायु होने आदि का यह कारण है कि विवाह आदि में क्रिया में त्रुटि रह जाती है।

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसमें सन्देह बना रहता है कि उक्त फल क्रिया की त्रुटि से हुआ है अथवा मन्त्रों के असामर्थ्य[4] से हुआ है, इस प्रकार निश्चय नहीं होता है, क्योंकि मन्त्रों के विना शुभफल न होता हो यह बात दीख नहीं पड़ती है।

वादी—"आरोग्गं वोहिलाभं समाहि वरमुत्तमं दिंतु" इत्यादि वाक्यों का जिस प्रकार आपके मत में लोकान्तर[5] में ही फल माना गया है इसी प्रकार हमारे माने हुए वेद वाक्यों का भी इस जन्म में फल नहीं होता है, इस बात को आप क्यों नहीं मानते हैं, इसलिये विवाहादि के विषय में आपका उपालम्भ[6] ठीक नहीं है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार वर्त्तमान जन्म में विवाहादि में किये हुए मन्त्र संस्कारों से आगामी[7] जन्म में उनका फल है इसी प्रकार दूसरे आदि जन्मों में भी विवाहादि प्रवृत्ति रूप धर्मों को ही पुण्य का हेतु मानने में उनका अनन्त भवों तक सम्बन्ध होना चाहिये, ऐसा होने पर न तो कभी संसार की परिसमाप्ति होगी और न किसी को अपवर्ग[8] की प्राप्ति होगी, इस प्रकार आपका माना हुआ वेद अनन्त संसार का मूल[9]

१—ग़रीबी। २—सौभाग्य वाले। ३—बड़ी अवस्था वाले। ४—अशक्ति। ५—दूसरे लोक। ६—उलहना। ७—अगले। ८—मोक्ष। ९—कारण।

हो जाता है आरोग्य आदि की जो प्रार्थना है, वह तो असत्यामृषाभाषा (व्यवहार भाषा) रूप है, इसलिये परिणाम विशुद्धि का कारण होने से उसमें दोष नहीं आता है, क्योंकि उसमें तो भावारोग्य आदि की ही विवक्षा[1] है और वह चातुर्गतिक[2] संसार स्वरूप भाव रोग का नाश रूप होने से उत्तम फलरूप है तथा तद्विषयिणी[3] प्रार्थना का कौन विवेकी पुरुष आदर नहीं करेगा ? तथा उससे होने वाली परिणाम विशुद्धि से वह फल प्राप्त न होता हो यह बात नहीं है, क्योंकि भाव-शुद्धि से अपवर्ग फल की प्राप्ति में सब ही वादियों का एक मत है।

अब जो तुमने यह कहा था कि याज्ञिक[4] लोगों की संसार में पूजा होती है, सो वह कथन भी असार[5] है। मूर्ख लोग ही उनकी पूजा करते हैं किन्तु विचारशील नहीं, तथा मूर्ख जनों से की हुई पूजा का प्रमाण नहीं है, ऐसी पूजा तो कुत्ते आदि की भी देखी जाती है।

अब जो तुमने यह कहा था कि "देवता अतिथि और पितरों की प्रीति को उत्पन्न करने के कारण वेदविहित हिंसा से दोष नहीं होता है" सो तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि देवता तो संकल्पमात्र से प्राप्त हुए अभीष्ट[6] आहार के पुद्गलों के रस के आस्वाद से प्रेम करते हैं तथा वैक्रिय शरीर होते हैं इसलिये उनकी तो तुम्हारे दिये हुए निन्दित पशुमांसादि की आहुति के लेने में इच्छा ही नहीं हो सकती है, क्योंकि जो औदारिक शरीर हैं उन्हीं की उसके लेने की योग्यता है फिर देखो ! यदि देवता लोग प्रक्षेप आहार को स्वीकार करें तो उनके मन्त्रमय शरीर मानने में बाधा आती है, तथा उनका मन्त्रमय शरीर होता है यह बात तुम्हारे पक्ष में भी सिद्ध ही है,

१—कथन की इच्छा। २—चार गतियों वाले। ३—उसके विषय में। ४—यज्ञ करने वाले। ५—सार रहित। ६—प्रिय।

फिर देखो ! होम की हुई वस्तु तो भस्मीभूत हो जाती है यह प्रत्यक्ष ही देखा जाता है तो फिर उसके उपभोग से देवों की प्रीति कहाँ से हो सकती है ?

फिर देखो ! तुम्हारे मत में त्रेताग्नि को तैंतीस करोड़ देवों का मुख माना है। "अग्निमुखा वैदेवाः" ऐसा कहा गया है, इसलिये उत्तम, मध्यम और अधम देव जब एक ही मुख से भोग करेंगे तो फिर उनमें परस्पर एक दूसरे के उच्छिष्ट[1] भोजन का प्रसंग होगा ऐसी दशा में तो वे तुरुष्कों[2] से भी बढ़ जावेंगे, क्योंकि तुरुष्क लोग तो एक पात्र में खाते हैं किन्तु एक मुख से नहीं खाते हैं । फिर देखो ! एक शरीर में मुख बहुत से होते हैं यह तो कहीं कहीं सुना जाता है परन्तु अनेक शरीरों में एक मुख का होना तो बड़े आश्चर्य की बात है, फिर देखो ! सब देवों का एक ही मुख मानने पर यह भी दोष होता है कि जब कोई पुरुष एक देव की पूजा आदि के द्वारा आराधना करेगा और दूसरे देव की निन्दा आदि के द्वारा विराधना करेगा तब एक ही मुख से एक साथ ही दो देवों के अनुग्रह[3] और निग्रह[4] वाक्य के उच्चारण का सङ्कर[5] होगा, फिर देखो ! मुख शरीर का नवाँ भाग है और वह भी जिनका दाहस्वरूप है, उनका एक एक करके तमाम शरीर दाहस्वरूप है तो वह तो त्रिलोकी को भस्म करके ही छोड़ेगा ।

अब जो तुमने यह कहा था कि "वृष्टिकारी[6] यज्ञ के करने पर जो वृष्टि आदि फल होता है वह तत्सम्बन्धी प्रसन्न हुए देव के अनुग्रह से होता है" सो तुम्हारा यह कथन भी व्यभिचारी है, क्योंकि उक्त विषय में कहीं कहीं व्यभिचार भी देखा जाता है, किञ्च—जहाँ

१—जूंठ । २—तुर्क लोगों । ३—कृपा । ४—क्रोध । ५—मिश्रण ।
६—वृष्टि करने वाला ।

व्यभिचार नहीं भी है वहाँ भी तुम्हारी दी हुई आहुति के भोजन से उनका अनुग्रह नहीं होता है किन्तु वह देव विशेष अतिशय ज्ञानी[1] होता है वह अपने उद्देश्य[2] से किये हुए पूजा के उपचार[3] को जब अपने ही स्थान में बैठा हुआ जान लेता है तब उसके करने वाले पर प्रसन्न होकर इच्छावश उन उन कार्यों की सिद्धि कर देता है, किन्तु अनुपयोग[4] आदि के द्वारा जब नहीं जानता है अथवा जानता भी है तो भी पूजा करने वाले के अभाग्य से सहकृत[5] होकर कार्य को सिद्ध नहीं करता है क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव आदि सहकारियों के सम्बन्ध की अपेक्षा से ही कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है।

इसके सिवाय वह पूजा का उपचार[6] पशु के मारने के सिवाय अन्य प्रकारों से भी सहज में हो सकता है तो फिर एक मात्र पापरूप फल को देने वाले इस चाण्डाल व्यवहार से क्या प्रयोजन है?

अब जो तुमने यह कहा था कि "जांगल छगल के होम से देवी के परितोष[7] से परराष्ट्र का वशीकरण आदि सिद्धियाँ होती हैं" इस विषय में कौन क्या कहता है, क्योंकि कुछ क्षुद्रदेव ऐसे भी माने जाते हैं इसमें भी यह समझना चाहिये कि उनका परितोष भी उस वस्तु के दर्शन और ज्ञान आदि से ही होता है किन्तु उसके उपभोग से नहीं क्योंकि यदि उपभोग से परितोष माना जावे तो नीम के पत्ते, कडुआ तैल, आर-नाल, और धूमांश आदि जिन वस्तुओं का होम किया जाता है उनके भोजन का भी प्रसंग आवेगा, वास्तव में तो यह बात है कि-योग्य सामग्री के द्वारा आराधना[8] करने वालों की जो

१—अधिक ज्ञानवान्। २—निमित्त। ३—विधि, व्यवहार। ४—ध्यान न देना। ५—सहकारी। ६—विधि। ७—सन्तोष,-प्रसन्नता। ८—उपासना।

भक्ति है वहाँ उस उस फ़ल को उत्पन्न करती है, क्योंकि अचेतन[1] चिन्तामणि आदि में भी ऐसा ही देखा जाता है।

अब जो तुमने अतिथि-सत्कार के विषय में कहा था सो अतिथि-सत्कार तो संस्कारसम्पन्न[2] पक्वान्न आदि से भी हो सकता है, तो फिर अतिथि-सत्कार के लिये बड़े बैल और बड़े बकरे आदि को भेंट करना तो अज्ञानता को ही प्रकट करता है।

अब जो तुमने पितरों की प्रीति के विषय में कहा था-वह (प्रीति) तो व्यभिचारिणी[3] है, क्योंकि श्राद्ध आदि के करने से भी बहुतों के सन्तान वृद्धि नहीं देखी जाती है तथा उसके न करने पर भी गधे सुअर और बकरी आदि के समान किन्हीं के सन्तान वृद्धि दीख पड़ती है, इसलिये श्राद्ध आदि का करना केवल भोले लोगों को ठगना मात्र है। देखो! जो प्राणी लोकान्तर[4] में प्राप्त हो गये हैं, वे तो अपने किये हुए सुकृत[5] और दुष्कृत[6] कर्म के अनुसार देव और नारक आदि गतियों में सुख और दुःख का भोग करते रहते हैं, भला वे पुत्रादि के दिये हुए पिण्ड के भोगने की इच्छा क्यों करेंगे? फिर यह भी तो देखो कि श्राद्ध आदि के करने से अर्जित[7] जो पुण्य है वह दूसरे का किया हुआ है, जड़ है तथा चरण[8] रहित है, तो वह पितरों के पास कैसे पहुँच सकता है?

वादी—पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध आदि के करने पर भी देने वाले पुत्र आदि को तो पुण्य होता ही है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन (पुत्रादि) ने तो तज्जन्य[9] पुण्य को अपने अध्यवसाय से उतार दिया है, ऐसी दशा में

१—जड़। २—संस्कार युक्त। ३—व्यभिचार वाली। ४—दूसरा लोक। ५—पुण्य। ६—पाप। ७—कमाया हुआ। ८—पैर (वा गति) से रहित। ९—उससे होने वाले।

वह पुण्य दोनों में से एक को भी नहीं मिल सकेगा किन्तु वह तो त्रिशंकु[1] के समान वीच में ही लटकता रहेगा, इसके सिवाय पापानुवन्धी पुण्य होने से वह पाप रूप ही है।

वादी—ब्राह्मणों का खाया हुआ अन्न पितरों को प्राप्त होता है, अतः श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

उत्तर—इस वात का विश्वास कौन करेगा? क्योंकि श्राद्ध में माल खाने से ब्राह्मणों की ही तौंद वढ़ती है, किन्तु पितरों के शरीर में तो भोजन का संक्रम भी होता हो यह विश्वास नहीं होता है, देखो! भोजन के समय में उसके संक्रमण का चिह्न किसी के भी नहीं दीखता है, किन्तु साक्षात् ब्राह्मणों की ही तृप्ति होती है, यदि वे ही व्याकुल होकर अति लालसा के साथ वड़े वड़े कवलों से खाते हुए प्रेतप्राय माने जावें तो भले ही मानों, इसलिये श्राद्धादि का करना व्यर्थरूप है।

अव सांख्य मत के विषय में कुछ लिखा जाता है—इनका मन्तव्य[2] यह है कि तीन दुःखों से अभिहत[3] पुरुष की उन दुःखों के नाश की कारणभूत[4] तत्त्वजिज्ञासा[5] उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन दुःख हैं आध्यात्मिक के दो भेद हैं—शारीरिक और मानसिक, वात, पित्त और कफ की विषमता[6] से जो दुःख होता है वह शारीरिक है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह,

---

१—पौराणिक मत से त्रिशंकु नामक राजा था, वह वशिष्ठ के शाप से चाण्डाल हो गया, उसने विश्वामित्र को पुरोहित वना कर यज्ञ किया, भूतल को छोड़ दिया, इन्द्र के क्रोध से स्वर्ग से लौटा दिया गया तो बीच में ही ठहर गया, अर्थात् न तो स्वर्ग का भोग कर सका और न पृथ्वी का। २—मत। ३—पीड़ित। ४—कारणस्वरूप। ५—तत्त्वों के जानने की इच्छा। ६—असमानता।

ईर्ष्या तथा विषयादर्शन[1] आदि से जो दुःख होता है वह मानसिक है, इन दोनों प्रकार के दुःखों को आध्यात्मिक इसलिये कहते हैं कि उक्त दुःख भीतरी उपाय से साध्य हैं, तथा बाहरी उपाय से साध्य दुःख दो प्रकार का है-आधिभौतिक और आधिदैविक, इनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, साँप और स्थावर से जो दुःख होता है उसको आधिभौतिक कहते हैं तथा यक्ष, राक्षस और ग्रह आदि के आवेश[2] से जो दुःख होता है उसको आधिदैविक कहते हैं, इन तीनों दुःखों से बुद्धिवर्त्ती रजोगुण के परिणाम के भेद से चेतना शक्ति का प्रतिकूलता के द्वारा जो सम्बन्ध है उसको अभिघात कहते हैं।

तत्त्व पचीस हैं—एक अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पाँच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा पाँच महाभूत, इस प्रकार तेईस प्रकार का व्यक्त है तथा एक चिद्रूप पुरुष है।

लाघव, उपष्टम्भ और गौरव धर्म वाले प्रीति अप्रीति और विषादस्वरूप तथा परस्पर में उपकारी सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं, इसी को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं, यह अव्यक्त अनादि[3] असमध्य[4] और अनन्त[5] है, अवयव रहित है, साधारण है, शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, रूप रहित है, गन्ध रहित है तथा अव्यय है।

इस प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती है उसी को महत् कहते हैं, यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है, यह गौ ही है अश्व नहीं है, यह स्थाणु ही है पुरुष नहीं है, इस अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं, उस बुद्धि के आठ रूप हैं-उनमें से धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार रूप तो सात्त्विक हैं तथा उनसे प्रतिकूल अधर्मादि चार रूप तामस हैं।

१—अभीष्ट विषय का न दीखना। २—प्रवेश। ३—आदिरहित।
४—मध्यरहित। ५—अन्तरहित।

बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है और वह अभिमानस्वरूप है, मैं शब्द करता हूं, मैं स्पर्श करता हूं, मैं रूप का ग्रहण करता हूं, मैं रस का ग्रहण करता हूं मैं स्वामी हूं, मैं ईश्वर हूं इसको मैंने मारा है, मैं बलवान हूं मैं इसको मारूँगा. इत्यादि अभिमान का स्वरूप है, उस अभिमान से शब्द तन्मात्र आदि पाँच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं. जो कि अविशेष रूप हैं इन्हीं को सूक्ष्म पर्याय भी कहते हैं. शब्द के तन्मात्र से शब्द का ही ग्रहण होता है, किन्तु उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित और षड्जादि भेदों का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु षड्जादि का ग्रहण ही शब्द विशेष से होता है। इसी प्रकार से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के तन्मात्रों में भी योजना[1] कर लेनी चाहिये, उस अहङ्कार से ही ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमें से चक्षु, श्रोत्र घ्राण, रसन और त्वक्, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, तथा ग्यारहवाँ मन है।

पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं अर्थात् शब्द तन्मात्र से आकाश उत्पन्न होता है और उसका गुण शब्द है, शब्द तन्मात्र के सहित स्पर्श तन्मात्र से वायु उत्पन्न होता है और उसका गुण शब्द और स्पर्श है, शब्द और स्पर्श के तन्मात्र के सहित रूप तन्मात्र से तेज उत्पन्न होता है और उसका गुण शब्द, स्पर्श और रूप है, शब्द स्पर्श और रूप के तन्मात्र के सहित रस तन्मात्र से जल उत्पन्न होता है तथा उसका गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस है तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस के तन्मात्र के सहित गन्ध तन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होती है और उसका गुण शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध है।

१—घटना।

पुरुष अमृत, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत[1], अक्रिय[2], अकर्त्ता, निर्गुण सूक्ष्म आत्मा है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्ध और पंगु के समान होता है, चित्-शक्ति विषयों के ज्ञान से रहित है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा सुख और दुःख आदि विषय बुद्धि में प्रवेश करते हैं तथा बुद्धि उभय मुख वाले दर्पण के समान है, इसलिये उसमें चैतन्य शक्ति का प्रतिबिम्ब[3] पड़ता है इसीलिये मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इत्यादि व्यवहार होता है, आत्मा अपने को बुद्धि से अभिन्न[4] मानता है, तात्पर्य यह है कि मुख्यतया तो बुद्धि को ही विषय का ज्ञान होता है, यदि कोई यह कहे कि यदि पुरुष अगुण[5] और अपरिणामी[6] है तो उसका मोक्ष कैसे होता है ? तो उसका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष का अर्थ बन्धन से विश्लेष[7] होता है, वासना के साथ क्लेश, कर्म, आशय, बन्धन कहे गये हैं वे अपरिणामी पुरुष में होते ही ही नहीं हैं, इसी लिये उसको प्रेत्यभाव अर्थात् संसार भी नहीं होता है क्योंकि वह क्रिया रहित है, देखो ! नाना पुरुषों का आश्रय[8] लेने वाली प्रकृति का ही बन्धन होता है, उसी को संसार होता है तथा वही मुक्त भी होती है. किन्तु पुरुष नहीं होता है, केवल बन्ध, मोक्ष और संसार. इनका पुरुष में केवल व्यवहार होता है। जैसे देखो ! जय[9] और पराजय[10] नौकरों के होते हैं तो भी वे स्वामी के माने जाते हैं क्योंकि कोशलाभादि[11] जो उनका फल है उसका सम्बन्ध स्वामी से है। इसी प्रकार भोग और मोक्ष यद्यपि प्रकृति में रहते हैं तो भी विवेक[12] का ग्रहण न

१—सर्वत्र व्यापक। २—क्रिया रहित। ३—परछाईं। ४—अपृथक्। ५—गुण रहित। ६—परिणाम रहित। ७—वियोग। ८—सहारा। ९—जीत। १०—हार। ११—खज़ाने का मिलना आदि। १२—वियोग, पृथक्त्व।

होने से उनका सम्बन्ध पुरुष में होता है। अब इनके उक्त मन्तव्य का खण्डन किया जाता है -

चैतन्य शक्ति है और यह विषयों के ज्ञान से रहित है, यह इनका परस्पर विरुद्ध वचन है, क्योंकि यदि वह अपने और दूसरे का ज्ञान कराने वाली नहीं है तो वह घड़े के समान चित्-शक्ति ही नहीं हो सकती है, इसके सिवाय अमूर्त्त[1] चित्-शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब भी नहीं हो सकता है. क्योंकि प्रतिबिम्ब होना मूर्त्त पदार्थ का धर्म है, तथा परिणाम विशेष के बिना उसका संक्रमण[2] नहीं हो सकता है. क्योंकि कथञ्चित् क्रियास्वरूपता के बिना प्रकृति का उपधान होने पर भी अन्यथात्त्व की सिद्धि नहीं होती है तथा अप्रच्युत[3] प्राचीन रूप का सुख दुःख आदि भोग का व्यवहार नहीं हो सकता है, तथा उसका प्रच्यव मानने पर पूर्वरूप का त्याग होने से उत्तर रूप के अध्यास[4] से वह सक्रिय[5] माना जावेगा देखो! स्फटिक आदि में भी परिणाम विशेष से प्रतिबिम्ब का उदय माना जाता है, यदि ऐसा न माना जावे तो अन्धउपल[6] आदि में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं होता है तथा परिणाम विशेष के मानने पर बलपूर्वक यह मानना पड़ेगा कि चित् शक्ति कर्त्री[7] है तथा साक्षात् भोक्त्री[8] भी है।

वादी—"भोक्तृ शक्ति अपरिणामिनी है और संक्रम से रहित भी है" यह बात पतञ्जलि जी ने कही है, इसलिये यह जो संक्रमण है वह औपचारिक[9] है।

उत्तर—यदि ऐसा है तब तो उपचार[10] वास्तव में अनुपयोगी[11] हो जाता है, तो फिर बुद्धिमान् पुरुष उसका ग्रहण क्यों करेंगे, और

१—मूर्त्ति रहित। २—मिश्रण। ३—प्रच्यवन से रहित। ४—आरोप। ५—क्रिया वाला। ६—अन्धे पत्थर। ७—करने वाली। ८—भोगने वाली। ९—व्यावहारिक १०—व्यवहार। ११—अलाभदायक।

ऐसी दशा में प्रत्येक प्राणी में प्रतीत[1] सुख और दुःख आदि का जो अनुभव है वह निराधार[2] ही हो जावेगा, तथा वह बुद्धि को हो यह माना नहीं जा सकता है, क्योंकि वह तो जड़रूप मानी गई है इसीलिये "बुद्धि जड़ है" यह भी विरुद्ध है, जड़रूप बुद्धि में विषयों के अभ्यास[3] का मानना भी अयुक्त[4] है।

वादी--अजी ! हमने तो यह कहा था कि यद्यपि बुद्धि अचेतन है तो भी चित्-शक्ति के समीप में रहने से वह चेतनावती के समान मालूम होती है।

उत्तर—हाँ तुमने उक्त बात कही तो थी परन्तु अयुक्त[5] कही थी, देखो ! चैतन्य वाले पुरुष आदि में प्रतिसंक्रान्त होने पर दर्पण चैतन्य नहीं हो जाता है, चेतन्य और अचैतन्य का स्वभाव नहीं बदलता है, अतः इन्द्र भी उनके स्वभाव को वदल नहीं सकता है।

किञ्च- तुम कहते हो कि बुद्धि अचेतन है तो भी चेतनावती के समान मालूम पड़ती है, यहाँ "समान" शब्द का प्रयोग होने से आरोप की ध्वनि निकलती है, तथा आरोप पदार्थ-क्रिया में समर्थ नहीं होता है, देखो ! अति क्रोधी होने आदि के द्वारा जिसमें अग्नि का समारोप किया गया है, ऐसा बालक कभी भी मुख्य अग्नि से होने वाला दाह और पाक आदि रूप क्रिया को नहीं कर सकता है इसलिये चित् शक्ति में ही विषय का अध्यवसाय[6] हो सकता है किन्तु जड़रूप बुद्धि में नहीं हो सकता है, इसीलिये उसको जो धर्म आदि आठ रूप वाली कहा है. वह भी कथन मात्र है, क्योंकि धर्म आदि तो आत्मा के धर्म हैं, इसीलिये अहङ्कार की उत्पत्ति भी बुद्धि से नहीं हो सकती है, क्योंकि वह तो अभिमान स्वरूप है, इसलिये वह आत्मा का धर्म है, उसकी-अचेतन[7] से उत्पत्ति कैसे हो सकती है तथा आकाश आदि की

१—अनुभूत। २—आश्रय रहित। ३—स्थिति। ४—अयोग्य। ५—अनुचित। ६—अनुभव। ७—जड़।

उत्पत्ति जो तुमने शब्द तन्मात्र आदि से मानी है उसकी भी सिद्धि किसी प्रकार से नहीं हो सकती है।

किञ्च—सब ही वादियों ने विना विरोध के आकाश को नित्य माना है और तुम उसकी उत्पत्ति शब्द तन्मात्र से मानते हो, इसलिये तुम्हारा आसन नित्यैकान्तवादियों[1] में भी सबसे आगे होकर यह प्रकट करता है कि तुम असंगत प्रलापी[2] हो, परिणामि कारण अपने कार्य का गुण भी नहीं हो सकता है. इसलिये "शब्द आकाश का गुण है" यह कथन केवल कथनमात्र है।

वाणी आदि को जो तुमने इन्द्रिय माना है सो वे तो इन्द्रियाँ ही नहीं हो सकती हैं, क्योंकि दूसरे से न हो सकने वाले कार्य को वे नहीं कर सकती हैं, देखो ! दूसरे से कहना, ग्रहण करना, विहार करना तथा मल का त्याग करना इत्यादि कार्य दूसरे अवयवों से भी हो सकते हैं और ऐसी दशा में भी उनकी कल्पना करने पर इन्द्रियों की संख्या सिद्ध नहीं होती है क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो दूसरे भी अङ्ग और उपाङ्ग इन्द्रिय माने जाने चाहिये।

अब जो तुमने यह कहा था कि "नाना आश्रय वाली प्रकृति को ही बन्ध, मोक्ष और संसार होता है, किन्तु पुरुष को नहीं होता है" सो यह कथन भी असार[3] है, क्योंकि अनादि भवपरम्परा से संबंध रखने वाली प्रकृति के साथ पुरुष का विवेकाग्रहण[4] स्वरूप जो अपृथक्त्व[5] है, यदि वही बन्ध नहीं है तो दूसरा कौनसा बन्ध है ? फिर देखो ! "प्रकृति ही सर्व उत्पत्ति वाले पदार्थों का निमित्त है" जब इस बात को आप स्वीकार करते हैं तो आपने नामान्तर से कर्म को ही

१—नित्य एकान्त पक्ष मानने वालों। २—अंट संट कथन करने वाले। ३—सार रहित। ४—भिन्नता का अग्रहणरूप। ५—अभिन्नता।

स्वीकार कर लिया है, क्योंकि कर्म का ही ऐसा स्वरूप है तथा वह अचेतन भी है।

अब जो तुमने बन्ध को प्राकृतिक[1], वैकारिक[2] और दाक्षिण[3] भेद से तीन प्रकार का माना है वह भी केवल कल्पना मात्र है तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय योगों से अभिन्न स्वरूप होने के कारण उक्त बन्धनों का कथञ्चित् कर्मबन्ध हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, बन्ध की सिद्धि होजाने पर उस (पुरुष) का संसार भी निर्बाध[4] सिद्ध होजाता है, बन्ध और मोक्ष, ये दोनों एक ही के आश्रय से रहते हैं इसलिये जिसका बन्धन हुआ है वही मुक्त होता है इसलिये पुरुष का ही मोक्ष होता है, यह बात गोपाल बालकों तक में प्रसिद्ध है।

वादी—प्रकृति और पुरुष में विवेक[5] के देखने से प्रवृत्ति से प्रकृति के उपरत[6] होने पर पुरुष के स्वरूप से जो अवस्थान[7] है वही मोक्ष कहा जाता है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति स्वभाव वाली जो प्रकृति है उसकी उदासीनता ही सिद्ध नहीं हो सकती है।

वादी—प्रकृति की प्रवृत्ति का कारण पुरुषार्थ है, तथा विवेक- ख्याति को पुरुषार्थ कहते हैं, उसके उत्पन्न होने पर कृतकार्य[8] होने से

१—प्रकृति में आत्मज्ञान से जो प्रकृति की उपासना करते हैं उनको प्राकृतिक बन्ध होता है। २—जो लोग पुरुष की बुद्धि से विकार-रूप (भूतेन्द्रिय अहंकार और बुद्धि) की उपासना करते हैं उनको वैकारिक बन्ध होता है। ३—इष्टापूर्त्त में दक्षिण बन्धन होता है अर्थात् पुरुषतत्त्व को न जानने वाला इष्टापूर्त्तकारी कामोपहत मन वाला पुरुष बन्धन को प्राप्त होता है। ४—बाधारहित। ५—भेद। ६—निवृत्त। ७—स्थिति। ८—सफलमनोरथ।

उसकी निवृत्ति हो जाती है। देखो ! जिस प्रकार रङ्ग को दिखला कर नर्त्तकी[1] नृत्य से निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार पुरुष को अपने को दिखला कर प्रकृति निवृत्त हो जाती है।

उत्तर—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति अचेतन है इसलिये वह विमृश्यकारिणी[2] नहीं हो सकती है, जिस प्रकार वह (प्रकृति) शब्दादि का ग्रहण करने पर भी फिर उसके लिये प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार विवेकख्याति करने पर भी फिर भी वह उसके लिये प्रवृत्ति करेगी, क्योंकि उसका प्रवृत्तिरूप स्वभाव तो मिट नहीं सकता है, अब जो तुमने नर्त्तकी का दृष्टान्त दिया है सो वह तो उलटा तुम्हारे मन्तव्य का विघात[3] करता है, देखो ! नर्त्तकी तो सभा के लोगों को नृत्य दिखला कर निवृत्त हो जाती है तथापि फिर उनकी इच्छा होने से उसमें प्रवृत्त हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपने को दिखला कर निवृत्त होकर भी फिर भी क्यों नहीं प्रवृत्त होगी ? इसलिये यही मानना चाहिये कि सब कर्मों का क्षय[4] होने पर पुरुष का ही मोक्ष होता है।

इसी प्रकार इन लोगों की जो जो अन्य कल्पनायें हैं वे भी असूलक[5] हैं, यह समझ लेना चाहिये, विस्तार के भय से उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

अब कुछ बुद्धमत के विषय में उल्लेख किया जाता है। बुद्धमतानुयायी लोग बुद्धिक्षणपरम्परामात्र को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु मौक्तिक समुदाय से सम्बद्ध एक सूत्र[6] के समान उनसे अन्वयी[7] एक को नहीं मनाते हैं, इनका यह मन्तव्य है कि जिस ज्ञानक्षण के द्वारा सदनुष्ठान[8] अथवा असदनुष्ठान[9] किया गया है उसका

१—नाचनेवाली। २—विचार कर काम करने वाली। ३—नाश। ४—नाश। ५—जड़ रहित। ६—सूत डोरा। ७—अन्वययुक्त। ८—अच्छा व्यवहार। ९—बुरा व्यवहार।

समूलनाश हो जाता है, इसलिये उसके फल का उपभोग नहीं होता है तथा जिसके फल का उपभोग होता है उस ज्ञानक्षण से वह कार्य नहीं किया गया गया है, इस प्रकार पूर्ववर्त्ती[1] ज्ञानक्षण का कृतप्रणाश[2] होता है, क्योंकि अपने किये हुए फल का उपभोग नहीं होता है तथा उत्तर ज्ञानक्षण का अकृतकर्म[3] भोग होता है अर्थात् स्वयं न किये हुए किन्तु दूसरे के किये हुए कर्म के फल का उपभोग होता है।

क्षणिकवाद पक्ष में संसार के भंग का भी दोष आता है अर्थात् परलोक के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि परलोक में जाने वाला तो कोई है ही नहीं, देखो ! पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार परलोक होता है और वह (पूर्वजन्म[4] कृतकर्म) प्राचीन क्षणों का समूल नाश होजाने से जन्मान्तर[5] में जाकर उनका उपभोग कौन करेगा ?

वादी—एक चित्त दूसरे चित्त से जुड़ जाता है, जैसे कि इस समय का चित्त दूसरे चित्त से जुड़ जाता है, वह चित्त मरण समय में होता है, इस प्रकार से भवपरम्परा[6] सिद्ध हो जाती है।

उत्तर—यह कथन व्यर्थ है, क्योंकि चित्त के जो क्षण हैं उनका समूल नाश होजाता है तो वे दूसरे चित्त से कैसे जुड़ सकते हैं, देखो ! जो पदार्थ विद्यमान होते हैं उन दोनों का प्रतिसन्धान[7] कोई उभयानुगामी[8] किया करता है. इन दोनों का जो जोड़नेवाला है उसको सौगत[9] मानते नहीं हैं, और वह अन्यवी आत्मा है, इसके सिवाय

१—पूर्व के। २—किये हुए का नाश। ३—न किये हुए कर्म का भोग। ४—पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म। ५—दूसरे जन्म। ६—संसार की परम्परा। ७—मेल। ८—दोनों से सम्बन्ध रखने वाला। ९—बौद्ध।

स्वभाव का हेतु तादात्म्य[1] होने पर होता है तथा भिन्न काल में होने वाले चित्तों का तादात्म्य कैसे हो सकता है, एक समय में होने वाले दो पदार्थों में प्रतिसन्धेय[2] और प्रतिसन्धायक[3] भाव भी सिद्ध नहीं होता है, देखो! युगपद्भावित्व[4] के समान होने पर यहाँ पर क्या नियामक[5] है; पर एक प्रति सन्धायक है, और यह दूसरा प्रति सन्धेय है। इसके सिवाय तुल्यकाल मानने पर हेतु और फल भाव की भी सिद्धि नहीं होती है तथा भिन्नकाल मानने पर पूर्व चित्तक्षण तो नष्ट हो गया है इसलिये उपादान[6] के विना दूसरा चित्तक्षण कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

इनके मत में मोक्ष की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इन लोगों के मत में जब आत्मा ही नहीं है तो परलोक में जाकर सुखी होने के लिये कौन यत्न करेगा तथा संसारी ज्ञानक्षण भी दूसरे ज्ञानक्षण के सुखी होने के लिये क्यों यत्न करेगा, देखो! दुःखी देवदत्त यज्ञदत्त के सुख के लिये चेष्टा करता हुआ नहीं दीख पड़ता है, क्षण का दुःख तो समूल नाश होने से उसी के साथ नष्ट हो गया, तथा वास्तविक[7] सन्तान तो कोई है नहीं, क्योंकि यदि किसी वास्तविक सन्तान को माना जावे तो आत्मा को स्वीकार करना पड़ेगा।

वादी—सब वासनाओं का विनाश होने पर विषयाकारोपद्रव[8] से रहित विशुद्ध ज्ञान का जो उत्पन्न होना है उसी को हम मोक्ष मानते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कारण के न होने से उसकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है, देखो! भावनाओं का समुदाय

१—तत्स्वरूपता। २—मेल के योग्य। ३—मेल करने वाला। ४—एक समय में होना। ५—नियम करने वाला। ६—कारणसामग्री। ७—असली। ८—विषय स्वरूप उपद्रव।

उसका कारण माना जाता है और वह स्थिर एक आश्रय के न होने से विशेपता[1] को उत्पन्न नहीं कर सकता है, देखो! प्रत्येक क्षण में अपूर्व के समान उत्पन्न होने वाला निरन्वयविनाशी[2] ज्ञान क्षण आकाश के लंघन के अभ्यास के समान प्रकर्पता[3] को प्राप्त हुए विना स्पष्ट अभिज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

इन लोगों के मत में स्मृति[4] की भी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि पूर्व ज्ञान से अनुभूत पदार्थ में उत्तर ज्ञानों की स्मृति नहीं हो सकती है, क्योंकि वे भिन्न हैं, अन्य से देखे हुए पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं होता है, यदि ऐसा न माना जावे तो एक से देखे हुए पदार्थ का सबको स्मरण होना चाहिये. स्मरण के न होने से प्रत्यभिज्ञान[5] भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति स्मरण और अनुभव दोनों से होती है।

वादी--यद्यपि सर्व पदार्थ क्षणिक[6] हैं तथापि वासना के वश से उत्पन्न होने वाले एकता के अध्यवसाय से इस लोक के तथा परलोक के सब व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है।

उत्तर—यह भी तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तुम लोग टूटी हुई मुक्तावली[7] के समान परस्पर में न जुड़े हुए क्षणों की एक दूसरे से सम्बद्धज्ञान को पैदा करने वाली, एक सूत्रस्थानीया[8] वासना को मानते हो और उसी को सन्तान भी कहते हो तथा इसके दो भेद मानते हो-क्षण सन्तति, तथा दीवे की ज्योति के समान नवीन नवीन उत्पन्न होते हुए अपरा पर सदृश क्षण परम्परा सो ये दोनों भेद अभेद, भेद और अनुभय के द्वारा सिद्ध नहीं होते हैं, देखो! अभेद अर्थात् तादात्म्य[9] के

१—भिन्नता । २—समूल नाश होने वाला । ३—अधिकता । ४—स्मरण । ५—यह वही है ऐसा ज्ञान । ६—क्षणस्थायी । ७—मोतियों की लड़ी । ८—एक डोरे के स्थान में । ९—तत्स्वरूपता ।

द्वारा उनकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि उनका अभेद मानने पर या तो वासना की सिद्धि होती है अथवा क्षण परम्परा की सिद्धि होती है, किन्तु दोनों की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि जो जिससे अभिन्न होता है वह उससे पृथक् नहीं दीखता है, जैसे कि घट से घट का स्वरूप पृथक् नहीं दीखता है, केवल वासना के मनाने पर अन्वयी[1] को स्वीकार करना पड़ता है तथा वास्य[2] पदार्थ के न होने पर उस वासना से कौन वासित किया जावेगा ? इस प्रकार वासना के स्वरूप की भी सिद्धि नहीं होती है तथा क्षणों की परम्परा के मानने पर वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं तथा भेद के द्वारा भी उनकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इस विषय में यह प्रश्न होता है कि वह वासना क्षणिका[4] है अथवा अक्षणिका[5] है, यदि उसे क्षणिका मानो तो क्षणों से भिन्न उसे मानना व्यर्थ है, तथा यदि उसे अक्षणिका मानो तो अन्वयी[6] पदार्थ के माननेसे तुम्हारे आगम में बाधा आती है, ऐसी दशा में दूसरे पदार्थों के क्षणिक होने की कल्पना का परिश्रम व्यसनमात्र है तथा अनुभय पक्ष के द्वारा भी उन दोनों की सिद्धि नहीं होती है, यदि तुम कदाचित् यह कहो कि हम वासना के क्षणश्रेणि[8] से अभेद को नहीं मानते हैं तथा भेद को भी नहीं मानते हैं किन्तु अनुभयरूप मानते हैं तो यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि भेद और अभेद ये दोनों विधि और निषेधरूप हैं, इन दोनों में से एक का प्रतिषेध[9] होने पर दूसरे की विधि मानने से किसी एक पक्ष को मानना पड़ता है तथा उसमें पूर्वोक्त ही दोष आता है, अथवा अनुभयरूप मानने पर अवस्तु[10] होने का प्रसंग

१—अन्वय से युक्त। २—वासना के योग्य। ३—वासनायुक्त। ४—क्षण भर रहने वाली। ५—क्षण से अधिक समय तक रहने वाली। ६—अन्वययुक्त। ७—आदत। ८—क्षणों की पंक्ति। ९—निषेध। १०—वस्तु का अभाव।

होता है, क्योंकि भेदस्वरूप और अभेदस्वरूप, इन दो पक्षों के सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है, जो लोग जिनमार्गानुयायी[1] नहीं हैं, उनके मत में तो अवश्य या तो वस्तु भिन्न होनी चाहिये, अथवा अभिन्न होनी चाहिये, क्योंकि उन दोनों से भिन्न वस्तु तो वन्ध्याबालक के समान है, इस प्रकार से तीनों विकल्पों[2] में क्षण परम्परा और वासना की असिद्धि[3] होने पर विवश[4] होकर भेदाभेद[5] पक्ष ही स्वीकार करना पड़ेगा।

वादी—यदि भेद पक्ष में दोप है तथा अभेद पक्ष में भी दोष है, तो वही दोप भेदाभेद पक्ष में क्यों नहीं आता है।

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकान्त[6] जो पक्ष है वह कुर्कुट सर्प[7], और नरसिंह[8] आदि के समान भिन्न जाति का है।

किञ्च—बौद्ध मत में वासना की भी तो सिद्धि नहीं होती है तो फिर उसके विपय में भेद और अभेद आदि विकल्पों का विचार करना ही व्यर्थ है।

अब कुछ अक्रियावादी[9] लौकायतिकों[10] के मत का निदर्शन किया जाता है:—

चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है, यह परलोक, पुण्य और पाप को नहीं मानता है, इसलिये नास्तिक कहलाता है।

१—जिनमार्ग पर चलने वाले। २—तर्कनाओं, पक्षों। ३—सिद्धि का न होना। ४—लाचार। ५—कथञ्चित् भेद तथा कथञ्चित् अभेद। ६—सर्वथा एक स्वरूप न होना। ७—न तो कुर्कुट और न सर्प किन्तु भिन्न जाति का कुर्कुट सर्प। ८—न तो नर और न सिंह, किन्तु भिन्न जाति का नरसिंह। ९—क्रिया को न मानने वाले। १०—चार्वाक मतानुयायियों।

केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण के मानने से दूसरे की जो चित्त वृत्तियाँ अतीन्द्रिय[1] हैं वे नहीं जानी जा सकती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियजन्य[2] है, मुख की प्रसन्नता आदि की चेष्टा रूप लिंग से दूसरे के अभिप्राय का निश्चय होने पर अनुमान प्रमाण को उसे न चाहने पर भी बलात्[3] मानना ही पड़ेगा, देखो! मेरे वचन के सुनने रूप अभिप्राय वाला यह पुरुष है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस प्रकार मुख के प्रसाद[4] आदि रूप चेष्टा नहीं होती, इस प्रकार अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति स्पष्टतया होती है, परन्तु खेद का विषय है कि यह अनुमान प्रमाण को नहीं मानता है, यह केवलमात्र उसका प्रमाद है, देखो यह एक साधारण बात है कि अनुमान के बिना दूसरे का अभिप्राय नहीं जाना जाता है।

किञ्च—यह जो परलोक आदि का निषेध करता है वह भी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के मानने पर नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय समीपवर्त्ती पदार्थ होता है, और परलोकादि का प्रतिषेध[5] किये बिना इसको सुख होता नहीं है, और दूसरे प्रमाण को यह मानता नहीं है, यह इसका बालहठ[6] है।

किञ्च—प्रत्यक्ष की जो प्रमाणता होती है, वह भी विषय के अव्यभिचार[7] से ही होती है, यदि ऐसा न माना जावे तो स्नान, पान और अवगाहन आदि पदार्थ क्रिया में असमर्थ मरुमरीचिका[8] समुदाय में जलज्ञान होने पर वह प्रमाण क्यों नहीं माना जा सकता है, और जब प्रमाणता को अर्थ के अव्यभिचार से माना जावे

१—इन्द्रियों से न जानने योग्य। २—इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला। ३—बलपूर्वक। ४—प्रसन्नता। ५—निषेध। ६—बालकों के हठ के समान। ७—व्यभिचार न होने से। ८—मरुस्थल में रेत में जो सूर्य की किरणें पड़कर जल के समान मालूम होता है उसे मरुमरीचिका कहते हैं।

तो अर्थ से सम्बद्ध[1] लिङ्ग और शब्द के द्वारा उत्पन्न होने वाले अनुमान और आगम की प्रमाणता क्यों नहीं माननी चाहिये ?

वादी—अनुमान और आगम तो व्यभिचारी भी देखे जाते हैं, इसलिये उनको अप्रमाण माना जाता है।

उत्तर—यों तो तिमिर[2] आदि दोष से दो चन्द्रमाओं का दीखना रूप जो प्रत्यक्ष है वह भी अप्रमाणरूप दीखता है, इस प्रकार तो सर्वत्र अप्रमाणता का प्रसंग आता है।

वादी—ऐसा जो प्रत्यक्ष है वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षाभास है।

उत्तर—तो यह बात तो अनुमान और आगम में भी तुल्य ही है, पक्षपात रहित होकर इस बात को विचारो, इस प्रकार केवल प्रत्यक्ष के मानने पर वस्तुओं की व्यवस्था कदापि सिद्ध नहीं हो सकती है, तुम प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार लेकर जो जीव, पुण्य, अपुण्य और परलोक आदि का निषेध करते हो सो वह भी प्रमाणरूप है।

किञ्च—यह भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है, इसके सिवाय जीव पदार्थ को नहीं मानता है, इसका खण्डन अनेक ग्रन्थों में किया गया है, वहाँ देख लेना चाहिये।

इस प्रकार विभिन्न मतों का संक्षेपतया दिग्दर्शन करके अब जैन सिद्धान्त के उपयोगी न्याय सम्बन्धी विषय का संक्षेपतया वर्णन किया जाता है:—

जैन मत में प्रत्येक वस्तु उत्पाद[3], विनाश[4] और स्थैर्य[5] के योग से त्रिस्वरूप मानी जाती है, तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु की

१—सम्बन्ध रखने वाला। २—अन्धकार। ३—उत्तर आकार का स्वीकार। ४—पूर्व आकार का परित्याग। ५—उत्पाद और विनाश के अनुयायी होने से त्रिकालवर्ती।

द्रव्यस्वरूप से स्थिति होती है तथा पर्यायरूप से सब वस्तुओं का उत्पाद और विनाश होता है।

वादी—उत्पाद, विनाश और स्थिरता, इनमें परस्पर में भेद है या नहीं, यदि परस्पर में भेद है तो एक वस्तु त्रिस्वरूप कैसे हो सकती है तथा यदि परस्पर में भेद नहीं है तो भी एक वस्तु त्रिस्वरूप कैसे हो सकती है।

उत्तर—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कथञ्चित् भिन्नस्वरूप होने से उनमें कथञ्चित् भेद माना जाता है तथा भिन्नस्वरूपता असिद्ध हो, यह बात नहीं है, असत् का आत्मलाभ होता है, सत् का सत्तावियोग होता है, तथा द्रव्यरूपता के द्वारा अनुवर्त्तन[1] होता है, इस प्रकार उत्पाद आदि के परस्पर में असंकीर्ण[2] लक्षण हैं तथा सकल लोक में माने जाते हैं।

किञ्च—भिन्न लक्षण होने पर भी इनको एक दूसरे की अपेक्षा होती है, यदि यह बात न हो तो आकाश पुष्प के समान असद[3] हो जावें, देखो! कूर्म रोम के समान स्थिति और विनाश से रहित होने से अकेला उत्पाद नहीं है, तथा उसी के समान स्थिति और उत्पत्ति से रहित होने से अकेला विनाश भी नहीं है, इसी प्रकार उसी के समान विनाश और उत्पाद से शून्य होने से अकेली स्थिति भी नहीं है, इस प्रकार वस्तु में एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले उत्पाद आदि की सत्ता को मानना चाहिये।

जैन सिद्धान्त में जीवाजीवस्वरूप वस्तु अनन्त धर्मात्मक[4] मानी जाती है, यदि ऐसा न माना जावे तो वस्तु की सिद्धि नहीं हो

१—अन्वय। २—न मिलने वाले। ३—अभावरूप। ४—अनन्त अर्थात् त्रिकाल विषयक होने से अपरिमित जो धर्म अर्थात् सहभावी और क्रमभावी पर्याय हैं वे ही जिसके आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं उसको अनन्त धर्मात्मक कहते हैं।

सकती है, देखो ! आत्मारूप वस्तु में साकार और निराकार की उपयोगिता, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व, प्रदेशाष्टकनिश्चलता[1], अमूर्त्तत्त्व,[2] असंख्यात प्रदेशात्मकता[3] और जीवत्त्व, इत्यादि सहभावी[4] धर्म हैं, तथा हर्ष, विषाद, शोक, सुख, दुःख, देव, नर, नारक और तिर्यक्त्व आदि क्रमभावी[5] धर्म हैं, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदि में भी असंख्येय प्रदेशात्मकत्त्व[6], गत्याद्युपग्रहकारित्त्व[7], मत्यादिज्ञानविषयत्त्व[8], तत्तत् अवच्छेदकों से अवच्छेद्यत्त्व[9], अवस्थितत्त्व, अरूपित्त्व, एकद्रव्यत्त्व, और निष्क्रियत्त्व आदि धर्म हैं, इसी प्रकार घट में आमत्त्व[10], पाकजरूपादिमत्त्व[11], पृथुबुध्नोदरत्त्व, कम्बुग्रीवत्त्व, जलादि का धारण, आहरण का सामर्थ्य मत्यादिज्ञानज्ञेयत्त्व, नवत्त्व और पुराणत्त्व आदि धर्म हैं, इसी प्रकार से अनेक नयों के मत को जानने वाले पुरुष को सब ही पदार्थों में शाब्द[12] और आर्थ[13] पर्यायों को जान लेना चाहिये।

प्रत्येक पदार्थ उत्पाद[14], व्यय और ध्रुवता से युक्त होता है, अर्थों के विषय में इसी प्रकार घटना करनी चाहिये तथा शब्दों में भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोषवत्, अघोषता, अल्पप्राणता और महाप्राणता आदि तथा विशेष विशेष प्रकार के पदार्थों को बतलाने की शक्ति आदि धर्म जान लेने चाहियें।

१—आठों प्रदेशों में निश्चल रहना। २—अमूर्त्तपन। ३—असंख्यात प्रदेश स्वरूपता। ४—साथ में होने वाला। ५—क्रम से होने वाले। ६—असंख्येय प्रदेश स्वरूपता। ७—गति आदि के विषय में उपग्रह करना। ८—मत्यादि ज्ञान से ज्ञान होना। ९—विशेष विशेष प्रकार के अवच्छेदकों (विशेष धर्मों) से अवच्छेद्य (विशेष्य) होना। १०—कच्चापन। ११—पाकजरूपादि से युक्त होना। १२—शब्दसम्बन्धी। १३—अर्थ सम्बन्धी। १४—उत्पादादि का स्वरूप प्रथम कहा जा चुका है।

प्रत्येक वस्तु अपर्यय अर्थात् अविवक्षित पर्याय वाली होती है—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव, एतल्लक्षण छः द्रव्य वस्तु नाम से कहे जाते हैं तात्पर्य यह है कि चेतन और अचेतन रूप आत्मा और घट आदि एक ही वस्तु विद्यमान भी पर्यायों की विवक्षा न होने से द्रव्यरूप ही वस्तु कही जा सकती है, जैसे देखो! यह आत्मा है, यह घट है, यह व्यवहार पर्यायों के द्रव्य से अभिन्न होने से होता है, इसीलिये शुद्ध संग्रह आदि द्रव्यास्तिक नय केवल द्रव्य को ही मानते हैं, क्योंकि पर्याय तो द्रव्य से अभिन्न है, तथा पृथक्रूपता के द्वारा वस्तु का कथन करने पर वह अद्रव्यरूप ही होती है अर्थात् केवल पर्यायरूप होती है।

ज्ञान और दर्शन आदि पर्यायों की अपेक्षा से जब आत्मा का प्रत्येक पर्याय में विचार किया जाता है तब पर्यायों का ही प्रतिभास[1] होता है किन्तु आत्मा नामक किसी द्रव्य का प्रतिभास नहीं होता है, इसी प्रकार से कुण्डल, ओष्ठ, पृथुबुध्नोदर पूर्व और अपर आदि भाग आदि अवयवों की अपेक्षा से जब घट का विचार किया जाता है तो वह पर्यायरूप ही होता है किन्तु पर्यायों से भिन्न घट नामक वस्तुरूप सिद्ध नहीं होता है, इसीलिये पर्यायास्तिक नयानुयायी लोग कहते हैं कि "सन्निविष्ट भागों का भिन्न २ प्रकार से प्रतिभास होता है किन्तु उन भागों से विशिष्ट किसी निर्भाग[2] की प्रतीति[3] नहीं होती है"।

इसलिये वस्तु यद्यपि द्रव्यात्मक[4] पर्यायात्मक[5] और उभयात्मक[6] है तो भी द्रव्यनय की विवक्षा[7] से तथा पर्यायनय की अविवक्षा[8] से वह द्रव्यरूप मानी जाती है, पर्यायनय की विवक्षा से तथा द्रव्यनय की

१—भान। २—भागरहित। ३—ज्ञान। ४—द्रव्य स्वरूप। ५—पर्यायस्वरूप। ६—उभयस्वरूप। ७—कथन की इच्छा। ८—न कथन की इच्छा।

अविवक्षा से वह पर्यायरूप मानी जाती है तथा दोनों नयों की विवक्षा से उभयरूप मानी जाती है।

वादी—अजी! द्रव्य की प्रतीति दूसरे नाम से होती है तथा पर्यायों की प्रतीति दूसरे नाम से होती है तो फिर एक ही वस्तु उभय स्वरूप कैसे हो सकती है?

उत्तर—सकलादेश और विकलादेश स्वरूप दो आदेशों के द्वारा प्रत्येक वस्तु में सात भंग (वचन प्रकार) होते हैं, इस सप्तभंगी के स्वरूप को सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त विद्वान् लोग ही जानते हैं किन्तु मिथ्याग्रह[1] से युक्त दूसरे लोग इस विषय में निरर्थक[2] विरोध करते हैं।

प्रश्न—सात भंग कौन से हैं; तथा दो आदेश कौन से हैं?

उत्तर—एक जीवादि वस्तु में एक एक सत्त्वादि धर्म विषयक प्रश्न के कारण विना विरोध के अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों की बाधा के त्याग से पृथक्भूत[3] तथा समुदित[4] विधि और निषेध की पर्यालोचना[5] के द्वारा स्यात् शब्द से युक्त वक्ष्यमाण सात प्रकारों से जो वचन विन्यास है उसको सप्तभंगी कहते हैं। जैसे देखो! "स्यात् अस्त्येव सर्वम्[6]" इस प्रकार विधि की कल्पना से प्रथम भंग होता है, "स्यान्नास्त्येव सर्वम्" इस प्रकार की निषेध की कल्पना से दूसरा भंग होता है, "स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव" इस प्रकार क्रम से विधि और निषेध की कल्पना से तीसरा भङ्ग होता है, "स्यादवक्तव्यमेव" इस प्रकार एक समय में विधि और निषेध की कल्पना से चौथा भङ्ग होता है, "स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव" इस प्रकार विधि की कल्पना से और एक समय में विधि और निषेध की कल्पना से पाँचवाँ भङ्ग होता है, "स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव" इस प्रकार निषेध की कल्पना से

१—मिथ्या हठ। २—व्यर्थ। ३—पृथक्, अलग। ४—इकट्ठे। ५—विचार। ६—इनका विशेष वर्णन आगे किया जावेगा।

तथा एक समय में विधि और निषेध की कल्पना से छठा भङ्ग होता है तथा "स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव" "स्यादवक्तव्यमेव" इस प्रकार क्रम से विधि और निषेध की कल्पना से तथा एक समय में विधि और निषेध की कल्पना से सातवाँ भङ्ग होता है. अब इन सातों भङ्गों का संक्षेप से स्वरूप दिखलाया जाता है:—

"स्यादस्त्येव सर्वम्" यह प्रथम भंग है, इसका अर्थ यह है कि "सर्व वस्तु कथञ्चित् है ही" इसका तात्पर्य यह है कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा सब कुम्भादि[1] वस्तु है ही, किन्तु दूसरी वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा नहीं है, देखो ! कुम्भरूप वस्तु द्रव्य के द्वारा पार्थिवरूप[2] से है किन्तु जलादि रूप से नहीं है, क्षेत्र के द्वारा पाटलिपुत्रकत्त्व[3] रूप से है किन्तु कान्यकुब्जत्वादिरूप से नहीं है, काल के द्वारा शैशिरत्त्वरूप[4] से है किन्तु वासन्तिकत्वादि रूप से नहीं है तथा भाव के द्वारा श्यामत्वरूप[5] से है किन्तु रक्तत्वादि रूप से नहीं है, यदि ऐसा न माना जावे तो दूसरी वस्तु के रूप की आपत्ति के द्वारा स्वरूप की हानि हो जावेगी, किञ्च—"अस्त्येव कुम्भः[6]" यदि इतना ही कहा जावे तो स्तम्भ[7] आदि के अस्तित्त्व[8] के द्वारा भी सर्व प्रकार से कुम्भ का अस्तित्व प्राप्त होने से प्रतिनियत[9] स्वरूप की असिद्धि हो जावेगी, इसलिये उसकी सिद्धि के लिये "स्यात्" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि यह कुम्भ कथञ्चित् अपने द्रव्यादि के द्वारा ही है किन्तु दूसरी वस्तु के द्रव्यादि के द्वारा भी नहीं है।

---

१ घड़ा आदि। २—पृथिवी (मिट्टी) से बना हुआ। ३—पटना में होने वाले रूप से। ४—शिशिर ऋतु में बने हुए रूप से। ५—कृष्णत्व ६—घड़ा है ही। ७—खम्भा। ८—सत्ता। ९—निश्चित।

"स्यान्नास्त्येव सर्वम्" यह दूसरा भङ्ग है, इसका अर्थ यह है कि "सर्व वस्तु कथञ्चित् नहीं है" इसका तात्पर्य यह है कि कुम्भादि सर्व वस्तु कथञ्चित् नहीं ही है, देखो ! यदि अपने द्रव्यादि के द्वारा भी वस्तु की असत्ता[1] की अनिष्टि[2] होने पर प्रतिनियत स्वरूप के न होने से वस्तु की प्रतिनियति नहीं हो सकती है, जो लोग वस्तु के अस्तित्व के एकान्तवादी हैं उनको इस विषय में यह नहीं कहना चाहिये कि— नास्तित्त्व असिद्ध है, क्योंकि साधन के समान वस्तु में कथञ्चित् नास्तित्त्व की भी सिद्धि युक्ति से होती है. देखो ! किसी अनित्य आदि की सिद्धि करने पर विपक्ष में नास्तित्त्व के बिना सत्त्व आदि साधन का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है, यदि ऐसा हो तो वह साधन ही नहीं रहेगा, इसलिये यह मानना चाहिये कि वस्तु का अस्तित्त्व[3] नास्तित्त्व[4] के साथ में ही होता है तथा वस्तु का नास्तित्त्व भी अस्तित्त्व के ही साथ में होता है, हाँ यह बात अवश्य है कि विवक्षा के कारण इन दोनों में प्रधानत्त्व[5] और गौणत्त्व[6] रहता है यह बात सब ही भङ्गों में जान लेनी चाहिये ।

तीसरा भङ्ग स्पष्ट ही है, इसके विषय में लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

"स्यादवक्तव्यमेव" यह चौथा भङ्ग है, इसका अर्थ यह है कि सर्व वस्तु कथञ्चित अवक्तव्य[7] ही है, तात्पर्य यह है कि अस्तित्त्व और नास्तित्त्व, इन दोनों धर्मों की एक साथ ही प्रधानतया[8] विवक्षा के द्वारा एक वस्तु के कहने की इच्छा होने पर उस प्रकार के शब्द के न होने से अवक्तव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, देखो ! सत्त्व और असत्त्व, ये दोनों गुण एक साथ एक वस्तु में "सत्" शब्द के द्वारा

१—अभाव । २—अनिच्छा । ३—सत्ता । ४—असत्ता । ५—मुख्यता । ६—अमुख्यता । ७—न कहने योग्य । ८—प्रधानता के साथ में ।

नहीं बतलाये जा सकते हैं, क्योंकि सत् शब्द असत्व के बतलाने में असमर्थ है, तथा, असत् शब्द के द्वारा भी उक्त दोनों गुण नहीं बतलाये जा सकते हैं, क्योंकि असत् शब्द सत्व के बतलाने में असमर्थ है, तथा साङ्केतिक[1] एक पद भी ऐसा कोई नहीं है कि जो उन दोनों को बतला सके, इसलिये ऐसी वस्तु को अवक्तव्य कहना पड़ता है, अवक्तव्य का तात्पर्य यह है कि प्रधानभाव और गौणभाव को प्राप्त हुए एक साथ ही सत्त्व और असत्त्व धर्म से युक्त वस्तु है तथा वह स्यात् अवक्तव्य है किन्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, यदि ऐसा हो तो अवक्तव्य शब्द के द्वारा भी नहीं कही जा सकती है।

शेष जो तीन भङ्ग हैं उनका अभिप्राय सुगम ही है इसलिये लिखने की आवश्यकता नहीं है।

वादी एक वस्तु में विधीयमान[2] और निषिध्यमान[3] अनन्त धर्मों के स्वीकार करने से अनन्त भंग हो सकते हैं तो फिर सात ही भंग क्यों कहे हैं?

उत्तर विधि और निषेधरूप प्रकार की अपेक्षा से प्रत्येक पर्याय में वस्तु में अनन्त धर्म होने पर भी उनका समावेश[4] सात ही भंगों में हो जाता है इसलिये सात ही भंग कहे गये हैं, देखो! जिस प्रकार सत्त्व और असत्त्व के द्वारा सात भंग होते हैं उसी प्रकार सामान्य और विशेष के द्वारा भी सात ही भंग होते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये।

अब जो तुमने यह प्रश्न किया था कि सकलादेश और विकलादेश किसको कहते हैं, सो इसका उत्तर यह है कि यही सप्तभङ्गी प्रत्येक भंग में सकलादेशस्वभावा[5] भी है तथा विकलादेशस्वभावा[6] भी है।

१—संकेत से युक्त। २—विधान किये जाते हुए। ३—निषेध किये जाते हुए। ४—अन्तर्भाव। ५—सकलादेश स्वभाव वाली। ६—विकलादेश स्वभाव वाली।

इन में से सकलादेश प्रमाण वाक्य को कहते हैं, उसका स्वरूप यह है कि-प्रमाण से प्रतिपन्न[1] अनन्त धर्मात्मक[2] वस्तु का काल आदि[3] के द्वारा अभेदवृत्ति की प्रधानता से अथवा अभेद के उपचार[4] से एक साथ ही कथन करने वाला जो वचन है वही सकलादेश कहा जाता है, तथा उससे विपरीत वचन को विकलादेश कहते हैं तात्पर्य यह है कि नयवाक्य को विकालदेश कहते हैं।

वादी - अजी ये पूर्वोक्त धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं तो एक वस्तु में इन का समावेश कैसे हो सकता है ?

उत्तर--उपाधि के भेद से उनका समावेश होता है, देखो ! जो दो धर्म परस्पर को छोड़ कर रहते हैं उनका शीत और उष्ण के समान सहानवस्थानस्वरूप[5] विरोध होता है, परन्तु उक्त विषय में यह बात नहीं है, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व धर्म अपृथक्त्व[6] के द्वारा रहते हैं, देखो ! घट आदि पदार्थों में सत्त्व, असत्त्व को छोड़ कर नहीं रहता है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो पररूप से भी सत्त्व होना चाहिये तथा ऐसा होने पर उससे भिन्न जो दूसरे पदार्थ हैं वे निरर्थक[7] हो जावेंगे, क्योंकि उसी के द्वारा त्रिलोकी के पदार्थों से होने वाली पदार्थ क्रियाओं की सिद्धि हो जावेगी, इसी प्रकार असत्त्व भी सत्त्व को छोड़ कर नहीं रहता है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो स्वरूप से भी असत्व हो जावेगा और ऐसा होने पर उपाख्यारहित[8] होने के कारण सर्वशून्यता हो जावेगी, हाँ विरोध तब हो सकता है जब कि एक उपाधि की अपेक्षा से सत्त्व और

१—स्वीकृत । २—अनन्त धर्म स्वरूप वाली । ३—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द, ये आठ कालादि हैं, इनका वर्णन दूसरे ग्रन्थों में देख लेना चाहिये । ४—व्यवहार। ५—साथ में न रहना । ६—अभिन्नता । ७—व्यर्थ । ८—नामादि व्यवहार।

असत्त्व माना जावे, परन्तु यह बात है नहीं, क्योंकि जिस अंश[1] से सत्त्व है उसी अंश से असत्त्व नहीं है, किन्तु अन्य उपाधि की अपेक्षा से सत्त्व है तथा अन्य उपाधि की अपेक्षा से असत्त्व है, तात्पर्य यह है कि स्वरूप से सत्त्व है तथा पररूप से असत्त्व है, देखो! एक ही चित्र-पटरूप[2] अवयवी में दूसरी उपाधि से नीलत्व[3] होता है तथा दूसरी उपाधि से दूसरे वर्ण[4] होते हैं-देखो! नीलत्व तो नीली के राग[5] आदि उपाधि से होता है तथा दूसरे रंग उन उन रंगने वाले द्रव्यों की उपाधि से होते हैं, इसी प्रकार मेचकरत्न[6] में भी उन उन वर्णों के पुद्गलरूप उपाधि से विचित्रता को जान लेना चाहिये, इन दृष्टान्तों से सत्त्व और असत्त्व की भिन्न देश में होने की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि चित्रपट आदि अवयवी में वे एकरूप ही हैं, क्योंकि भिन्नदेशता की सिद्धि नहीं होती है, किञ्च कथञ्चित् का जो पक्ष है, वह तो दृष्टान्त में और दार्ष्टान्तिक में स्याद्वादियों को दुर्लभ नहीं है।

यदि इतना कथन करने पर भी आपको सन्तोष न हुआ हो तो और सुनो, देखो! उपाधि के भेद से एक ही पुरुष पिता, पुत्र, मामा, भानजा, चाचा और भतीजा आदि होता है, यद्यपि उक्त सर्व धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं तथापि उपाधि के भेद से उक्त धर्मों की प्रसिद्धि एक ही पुरुष में होती हुई दीखती है, जिस प्रकार से सत्त्व और असत्त्व के विषय में कहा गया है इसी प्रकार से अवक्तव्यत्व आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

स्यात् यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक[7] है प्रत्येक वस्तु के विषय में आठ पदों के साथ में इसकी योजना होती है- वे आठ पद ये हैं—नाशी, नित्य, सदृश, विरूप, वाच्य, अवाच्य, सत् और असत्,

१—भाग। २—चित्रयुक्त वस्त्र। ३—नीलापन। ४—रंग। ५—रंग। ६—रत्नविशेष। ७—ज्ञापक।

इनमें से दो दो पदों के साथ में स्यात् शब्द की योजना होकर कुल चार प्रकार बनते हैं, देखो ! प्रत्येक वस्तु स्यात् (कथञ्चित्) नाशी अर्थात् विनाशशील (अनित्य) है, स्यात् नित्य है अर्थात् अविनाश धर्म युक्त है. यह नित्यानित्यस्वरूप एक प्रकार है ।

स्यात् सदृश है अर्थात् अनुवृत्ति का हेतु जो सामान्य है तद्रूप है, स्यातविरूप है अर्थात् असदृश परिणामस्वरूप व्यावृत्ति का हेतु जो विशेष है तद्रूप है, यह सामान्य विशेषरूप दूसरा प्रकार है ।

स्यात् वाच्य (वक्तव्य) है तथा स्यात् अवाच्य (अवक्तव्य) है, यह अभिलाप्य और अनभिलाप्य स्वरूप तीसरा प्रकार है। स्यात् सत् है अर्थात् विद्यमानरूप है तथा स्यात् असत् है अर्थात् सत् से विलक्षण[1] है, यह सदसत्रूप चौथा प्रकार है। दीपक से लेकर आकाशपर्यन्त सब ही पदार्थों में इन चारों प्रकारों की घटना होती है ।

ऊपर लिखे अनुसार जैन सिद्धान्त में अनेकान्तवाद के द्वारा नित्य और अनित्य आदि धर्म प्रत्येक वस्तु में माने जाते हैं, क्योंकि सर्वथा नित्य पक्ष मानने में भी दोष आते हैं तथा सर्वथा अनित्यपक्ष मानने में भी दोष आते हैं इसीलिये एकान्तनित्यवादी और एकान्त-अनित्यवादी आपस में विवाद[2] करते हैं, देखो ! नित्यवादी कहता है कि सत्त्व (द्रव्य) होने के कारण सब वस्तुयें नित्य हैं, यदि क्षणिक पक्ष माना जावे तो सत्काल और असत्काल में पदार्थ की क्रिया में विरोध आता है, देखो ! यदि पदार्थ को क्षणिक माना जावे तो यह प्रश्न होता है कि वह विद्यमान दशा में कार्य को करता है अथवा अविद्यमान दशा में कार्य को करता है, क्योंकि इन दोनों गतियों के समान और तो कोई गति है नहीं, इनमें से यदि पहिला पक्ष माना जावे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि एक समय में रहने वाले पदार्थ में व्यापार

१—भिन्न । २—झगड़ा ।

नहीं हो सकता है, इसके सिवाय समकाल[1] में होने वाले पदार्थों में परस्पर में कार्य कारणभाव की प्राप्ति होने से अतिव्याप्ति[2] दोष भी आवेगा, यदि दूसरा पक्ष माना जावे तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि असत् पदार्थ कार्य कारण की शक्ति से रहित होता है, यदि ऐसा न माना जावे तो शशविषाण[3] आदि से भी कार्य होना चाहिये, क्योंकि विशेषता[4] तो कुछ है नहीं।

अनित्यवादी नित्यवादी से यह कहता है कि सब वस्तुयें क्षणिक[5] हैं, क्योंकि वे द्रव्य हैं, यदि अक्षणिक (नित्य) पक्ष माना जावे तो क्रम और यौगपद्य[6] के द्वारा पदार्थ की क्रिया में विरोध आवेगा, क्योंकि पदार्थ क्रिया का जो करना है वह भावस्वरूप है, इसलिये पदार्थक्रिया व्यावर्तमान होकर अपनी गोद में स्थापित सत्ता की भी व्यावृत्ति[7] कर देगी, इसलिये क्षणिक (अनित्य) पक्ष की ही सिद्धि होती है, देखो ! नित्य पदार्थ अर्थ क्रिया को क्रम से नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्व पदार्थ की क्रिया के करने के स्वभाव के नाश के द्वारा उत्तर क्रिया में क्रम से प्रवृत्ति हो सकती है, यदि ऐसा न माना जावे तो पूर्व क्रिया के करने के अविराम[8] का प्रसङ्ग आवेगा तथा उस स्वभाव का प्रच्यव[9] मानने पर नित्यता चली जावेगी, क्योंकि एक अवस्था में न रहना अनित्यता का लक्षण है, अब कदाचित् नित्यवादी यह कहे कि "नित्य भी पदार्थ क्रमवर्त्ती सहकारि कारणरूप पदार्थ की अपेक्षा करता रहता है पीछे उसको पाकर क्रम से कार्य को करता है" तो यह उसका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य पदार्थ के विषय में सहकारि कारण कुछ नहीं कर

१—एक समय। २—अलक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति को अतिव्याप्ति कहते हैं। ३—खरहे के सींग। ४—भेद, फर्क। ५—क्षणभर रहने वाली। ६—एक साथ। ७—निवृत्ति। ८—अशान्ति अनिवृत्ति। ९—विनाश।

सकता है और यदि अकिञ्चित् कर[1] पदार्थ की भी प्रतीक्षा की जावे तो अनवस्था दोष आवेगा तथा नित्य पदार्थ यौगपद्य[2] के द्वारा भी पदार्थ क्रिया को नहीं कर सकता है क्योंकि इसमें तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरोध आता है, देखो ! कोई भी एक समय में सब क्रियाओं का प्रारंभ करने वाला नहीं दीख पड़ता है ।

किञ्च-यदि यह भी मान लो कि वह यौगपद्य के द्वारा अर्थ क्रियाओं को करता है तथापि प्रथम क्षण में ही सब क्रियाओं की परिसमाप्ति हो जाने से दूसरे आदि क्षणों में न करने के कारण बलात्[3] अनित्यता आकर उपस्थित हो जाती है, क्योंकि एक ही पदार्थ में करने और न करने में विरोध आता है, इत्यादि ।

इस प्रकार से नित्यवादी और अनित्यवादी परस्पर में विवाद करते हैं-और उनका विवाद करना है भी ठीक, क्योंकि एकान्त नित्य पक्ष के मानने में भी दोष आते हैं तथा एकान्त अनित्य पक्ष के मानने में भी दोष आते हैं अतएव जैनसिद्धान्त एकान्त पक्ष को न मान कर अनेकान्त पक्ष को मानता है और उसके मानने में कोई भी दोष नहीं आता है ।

देखो ! एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य पक्ष के मानने पर न तो सुख और दुःख का भोग सिद्ध होता है न पुण्य और पाप की सिद्धि होती है और न बन्ध और मोक्ष की ही सिद्धि होती है, देखो ! आत्मा को यदि एकान्त नित्य माना जावे तो सुख और दुःख का भोग नहीं हो सकता है-अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिरैक रूप होना नित्य का लक्षण है. इसलिये जब आत्मा सुख का अनुभव करके अपने कारण समुदाय की सामग्री के वश से दुःख का भोग करता है, तब स्वभाव में भेद होने से अनित्यत्व की आपत्ति के द्वारा स्थिर एकरूपता की हानि का

१—कुछ भी न करने वाला । २—एक साथ । ३—बलपूर्वक ।

प्रसंग होता है यही बात दुःख का अनुभव करके सुख का अनुभव करने के समय भी जान लेनी चाहिये।

वादी—अवस्था में भेद होने से से यह व्यवहार होता है तथा अवस्थाओं में भेद होने पर भी अवस्था वाले का भेद नहीं होता है, जैसे साँप की कुण्डलाकृति आदि अवस्थाओं में भेद होने पर भी सर्प में भेद नहीं होता है।

उत्तर—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ये अवस्थायें उससे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं? यदि उनको भिन्न माना जावे तो वे उसकी हैं यह सम्बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि अतिव्याप्तिदोष आता है तथा उनको अभिन्न मानने पर वह तद्रूप नहीं है, इसलिये स्थिर एकरूपता की हानि ज्यों की त्यों बनी रहती है, इसके सिवाय आत्मा के एकान्त एक रूप होने पर अवस्थाओं में भी भेद कैसे हो सकता है?

किञ्च—सुख और दुःख के जो भोग हैं वे पुण्य और पाप से होते हैं तथा पुण्य और पाप की रचना[1] अर्थ क्रिया रूप है और वह (अर्थ क्रिया) कूटस्थनित्य की क्रम से वा अक्रम[2] में नहीं हो सकती है अर्थात् दानादि क्रिया से उपार्जनीय[3] शुभकर्म रूप पुण्य तथा हिंसादि क्रिया से होने वाला अशुभकर्मरूप पाप, इन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा एकान्त नित्य पक्ष मानने पर बन्ध[4] और मोक्ष की[5] की भी सिद्धि नहीं होती है, देखो बन्ध संयोग विशेष है

१—सिद्धि, निर्माण। २—एक साथ। ३—पैदा करने योग्य। ४—कर्म के पुद्गलों के साथ प्रति प्रदेश में अग्नि और लोहे के गोले के समान आत्मा का जो परस्पर में संश्लेष है उसको बन्ध कहते हैं। ५—सब कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं।

और वह (संयोग) अप्राप्तों[1] की प्राप्तिस्वरूप[2] है, अप्राप्ति-पूर्वकाल भाविनी अन्यावस्थारूप है तथा उत्तर काल में होने वाली प्राप्ति दूसरी है, इसलिये इन दोनों का भी अवस्था भेदरूप जो दोष है वह दुस्तर[3] है, देखो! आत्मा को एकरूप मानने पर आकस्मिक[4] वन्धन का संयोग कैसे हो सकता है?

किञ्च—वन्धन के संयोग से पूर्व यह मुक्त क्यों नहीं होगया? फिर तुम यह बतलाओ कि उस वन्धन से यह (आत्मा) विकार का अनुभव करता है अथवा नहीं करता है? यदि वह विकार का अनुभव करता है तो वह चर्मादि के समान अनित्य होगया, तथा यदि वह विकार का अनुभव नहीं करता है तब तो निर्विकार[5] होने पर सद्रूप अथवा असद्रूप उससे इस आत्मा में आकाश के समान कोई विशेषता नहीं हुई तो फिर वन्ध के निष्फल हो जाने से नित्यमुक्त ही रहना चाहिये, ऐसी दशा में संसार में वन्ध और मोक्ष की व्यवस्था ही नष्ट हो जावेगी, तथा वन्ध की असिद्धि होने पर मोक्ष की भी असिद्धि हो जावेगी, क्योंकि वन्धन के विच्छेद[6] को ही मुक्ति कहते हैं।

इसी प्रकार एकान्त अनित्य पक्ष में भी सुख और दुःख आदि की सिद्धि नहीं होती है, देखो! अत्यन्त उच्छेद[7] धर्मवाले को अनित्य कहते हैं, यदि आत्मा को इस प्रकार का माना जावे तो पुण्य सम्पादिका[8] क्रिया को करने वाले उस आत्मा का समूल नाश होजाने से उस पुण्य के फलभूत सुख का अनुभव किसको होगा? इसी प्रकार पाप की सम्पादिका क्रिया को करने वाले भी उस आत्मा का समूल

१—न मिले हुए पदार्थों। २—मिलना। ३—कठिन। ४—अचानक। ५—विकार रहित। ६—विनाश। ७—नाश। ८—पुण्य को पैदा करने वाली।

नाश होजाने से दुःख का अनुभव किसको होगा ? ऐसी दशा में ऐसी गड़बड़ मच जावेगी कि क्रिया तो कोई और करेगा और उसका फल कोई और भोगेगा।

वादी—जिस सन्तान में कर्म की वासना स्थापित है वह उसी सन्तान में फल को दे देती है जैसे कि कपास में सुर्खी होती है।

उत्तर—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है क्योंकि सन्तान और वासना, इन दोनों की सिद्धि ही नहीं हो सकती है, यह पहिले ही कहा जा चुका है।

एकान्त क्षणिक पक्ष मानने पर पुण्य और पाप की भी सिद्धि नहीं हो सकती है तथा उनकी जो अर्थ क्रियारूप सुख और दुःख का भोग है वह भी सिद्ध नहीं हो सकता है, यह विषय भी पहिले कहा जा चुका है. इस प्रकार अर्थ क्रियाकारी[1] न होने से उन दोनों की भी असिद्धि हो जाती है।

किञ्च—क्षणमात्रस्थायी को अनित्य कहते हैं-वह उस क्षण में उत्पत्तिमात्र में व्यग्र[2] होने से पुण्य और पाप के उपादान की क्रिया का अर्जन[3] कैसे कर सकता है तथा दूसरे आदि क्षणों में वह अवस्थिति[4] को ही प्राप्त नहीं होता है, पुण्य और पाप के उपादान की क्रिया के न होने पर पुण्य और पाप कहाँ से हो सकते हैं, क्योंकि वे तो निर्मूल हैं तथा उनके न होने पर सुख और दुःख का भोग कहाँ से हो सकता है, तथा उक्त विषय को यदि कथञ्चित् मान भी लिया जावे तो भी पूर्वक्षण के समान उत्तर क्षण होना चाहिये, क्योंकि उपादेय[5] उपादान के अनुकूल होता है, ऐसी दशा में दुःखित पूर्वक्षण से सुखी उत्तर क्षण कैसे उत्पन्न हो सकता है ? तथा सुख युक्त उस क्षण से वह दुःखित कैसे होसकता है ? क्योंकि ऐसा होने पर असमान भाग होने का

१—पदार्थ की क्रिया को करने वाले। २—संलग्न। ३—कमाना। ४—स्थिति। ५—उपादान से बना हुआ पदार्थ।

दोष आता है, इसी प्रकार पुण्य और पाप आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

इसी प्रकार एकान्त क्षणिक पक्ष मानने पर बन्ध और मोक्ष का भी असम्भव होता है, देखो! संसार में भी यह व्यवहार दीखता है कि जो बद्ध[1] होता है वही मुक्त होता है, किन्तु समूलनाश मानने पर तो एकाधिकरण[2] के न होने से तथा सन्तान के आवास्तविक[3] होने से उनकी सम्भावना भी कैसे हो सकती है? किन्तु आत्मा को परिणामी मानने पर सब ही विषय बाधारहित सिद्ध हो जाते हैं, इस लिये सर्व विषयों में अनेकान्त पक्ष को ही मानना चाहिये।

जैन सिद्धान्त के मन्तव्य के अनुसार पदार्थ का ज्ञानदुर्नीति, नय और प्रमाण के द्वारा होता है।

एक देश से विशिष्ट[4] पदार्थ जिनके द्वारा जाना जाता है उनको नीति अर्थात् नय कहते हैं, दुष्ट नीतियों को दुर्नीति अथवा दुर्नय कहते हैं, नय नैगम आदि हैं तथा अनेकान्त से विशिष्ट पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाता है उसको प्रमाण कहते हैं वह प्रमाण स्याद्वादस्वरूप है, वह दो प्रकार का है प्रत्यक्ष और परोक्ष, इनमें से दुर्नीति कहती है कि "वस्तु सत् ही है" नय कहता है कि "वस्तु सत् है" तात्पर्य यह है कि दुर्नीति वस्तु को सद्रूप ही कहती है जैसे "घड़ा है ही" यह दुर्नीति वस्तु में एकान्त[5] अस्तित्व को ही स्वीकार कर दूसरे धर्मों के तिरस्कार के द्वारा अपने अभिप्रेत[6] धर्म की ही स्थापना करती है, इसको दुर्नीति इसलिये कहते हैं कि यह मिथ्यारूप है और वह मिथ्यारूप इसलिये है कि वस्तु में विद्यमान भी दूसरे धर्मों को नहीं मानती है।

१—बँधा हुआ। २—एक आश्रय। ३—मिथ्यारूप। ४—युक्त। ५—सर्वथा। ६—अभीष्ट।

"वस्तु सत् है" इस प्रकार कहने वाला जो नय है वह "घड़ा है" इस प्रकार कह कर अपने अभीष्ट अस्तित्व धर्म की सिद्धि कर शेष धर्मों में गजनिमीलिका[1] का आलम्बन करता है यह दुर्नय इसलिये नहीं कहा जाता है कि यह दूसरे धर्मों का तिरस्कार नहीं करता है तथा यह प्रमाण भी इसलिये नहीं कहा जाता है कि यह स्यात् शब्द से लाञ्छित[2] नहीं है, प्रमाण इस बात को कहता है कि वस्तु स्यात् अर्थात् कथञ्चित् सत् है, यह प्रमाण इसलिये माना जाता है कि इसके कथन में दृष्ट और इष्ट से बाधा नहीं आती है तथा विपक्ष[3] में बाधक भी विद्यमान हैं, देखो ! प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् है, तथा पररूप से असत् है यह बात प्रथम ही कही जा चुकी है ।

मुख्यतया तो प्रमाण ही प्रमाण रूप होता है, क्योंकि इसीसे वस्तु के यथार्थस्वरूप[4] का बोध होता है, यहाँ पर प्रमाण के साथ में जो नय और दुर्नय का भी कथन किया गया है वह इसलिये किया गया है कि वे भी अनुयोगद्वारभूत होने से प्रज्ञापना के अङ्गरूप है देखो ! प्रवचनानुयोगरूप महानगर के चार द्वार हैं, उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, इनका स्वरूप अन्य ग्रन्थों में देख लेना चाहिये, यहाँ पर अब संक्षेप से दुर्नय, नय और प्रमाण का स्वरूप दिखलाया जाता है ।

प्रथम नय के स्वरूप के विषय में कुछ लिखा जाता है, क्योंकि नय का ज्ञान न होने पर दुर्नय का स्वरूप नहीं मालूम हो सकता है ।

१—हाथी नेत्रों को बन्द कर जलपान आदि करता है, तथा नेत्रों को बन्द कर लेने से यह विचार करता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ इस प्रकार यह वादी वस्तु में अस्तित्व धर्म की सिद्धि कर नास्तित्व आदि विशेष धर्मों में उपेक्षा कर लेता है । २—युक्त । ३—साध्य धर्म से रहित पदार्थ । ४—सच्चे ।

प्रमाण से स्वीकृत पदार्थ के एक देश का जो परामर्श[1] है उसको नय कहते हैं, यह (नय) अनन्त धर्मों से विशिष्ट[2] वस्तु को अपने अभीष्ट एक धर्म से विशिष्ट ही बतलाता है, तात्पर्य यह है कि प्रमाण की प्रवृत्ति से उत्तर काल मे होने वाला जो परामर्श है उसको नय कहते हैं।

वस्तु अनन्त धर्म युक्त होती है इसलिये यद्यपि नय भी अनन्त है तथापि प्राचीन आचार्यों ने सब का संग्रह करने वाले सात अभिप्रायों की परिकल्पना के द्वारा सात नय माने हैं-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत।

वादी—ये सात सर्व संग्राहक[3] किस प्रकार हैं ?

उत्तर—देखो ! अभिप्राय की प्रवृत्ति अर्थ के द्वारा अथवा शब्द के द्वारा होती है, क्योंकि दूसरी कोई गति नहीं है, अब जो ज्ञाता[4] पुरुष के अभिप्राय अर्थ निरूपण में चतुर हैं वे सब ही अभिप्राय प्रथम के चार नयों में अन्तर्गत हो जाते हैं, तथा जो शब्द विचार में चतुर हैं वे सब अभिप्राय शब्द आदि तीन नयों में अन्तर्गत हो जाते हैं।

इनमें से नैगम नय सत्तास्वरूप महा सामान्य है तथा द्रव्यत्त्व, गुणत्त्व और कर्मत्त्व आदि अवान्तर सामान्य हैं, यह (नैगम नय) सकलासाधारण[5] रूप लक्षण वाले अन्त्य विशेषों को तथा अपेक्षा के द्वारा पररूप के व्यावर्त्तन[6] में समर्थ तथा सामान्य से अत्यन्त भिन्न रूप वाले अवान्तर विशेषों को बतलाता है। संग्रह नय समस्त विशेषों के तिरोधान[7] के द्वारा सामान्यरूपता से विश्व का ग्रहण करता है।

व्यवहार नय यह कहता है कि संसार में जो वस्तु जिस प्रकार प्रसिद्ध है वह वैसी ही रहे।

१—विचार। २—युक्त। ३—सब का संग्रह करने वाला। ४—जानने वाले ५—सब में असाधारण। ६—निवृत्ति। ७—छिपाना।

अदृष्ट और अव्यवह्रियमाण[1] वस्तु की कल्पना का कष्ट उठाने से क्या प्रयोजन है, देखो ! जो वस्तु लोक व्यवहार मार्गानुसारी[2] होती है उसी का अनुग्राहक प्रमाण भी मिलता है, किन्तु दूसरी वस्तु का नहीं मिलता है, संग्रहनय की अभिमत सामान्य अनादिनिधन एक वस्तु प्रमाण का स्थान नहीं है, क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता है, इसके सिवाय सबके सर्वदर्शी होने का भी दोष आता है तथा क्षणभर में नाश होने वाले परमाणुस्वरूप विशेष भी प्रमाण के विषय नहीं हैं, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिये, सब संसार में अबाधित[3], प्रमाण से प्रसिद्ध कियत्कालभाविस्थूलता को धारण करने वाली जलाहरण[4] आदि अर्थ क्रिया की सिद्धि में समर्थ यह घट आदि वस्तु-रूप ही परमार्थिक[5] है, किन्तु पूर्वकाल और उत्तरकाल भावी जो उसके पर्याय हैं उनकी पर्यालोचना[6] ठीक नहीं है. क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा प्रमाण के बिना विचार नहीं किया जा सकता है, किञ्च उन (पर्यायों) के अवस्तु रूप होने से उनके विषय में विचार करने से भी क्या प्रयोजन है ? देखो ! पूर्व और उत्तर काल में होने वाले द्रव्य-विवर्त्त अथवा क्षणविनाशी परमाणुस्वरूप विशेष किसी प्रकार लोक में व्यवहृत नहीं होते हैं, इसलिये वे वस्तुरूप नहीं हैं, क्योंकि जो पदार्थ लोक व्यवहार के उपयोगी होते हैं वे ही वस्तु माने जाते हैं।

ऋजुसूत्र नय यह मानता है कि वर्त्तमान क्षण में जो विवर्त्त[7] है वही वस्तु रूप है, किन्तु अतीति[8] और अनागत[9] वस्तु रूप नहीं है, क्योंकि अतीत तो नष्ट हो गया है तथा अनागत का आत्मलाभ[10] नहीं

१—व्यवहार से रहित। २—लोक व्यवहार के मार्ग के अनुकूल। ३—बाधा रहित। ४—जल का लाना। ५—यथार्थ। ६—विचार। ७—अर्थ क्रियाकारक। ८—भूत। ९—भविष्यत्। १०—अपने स्वरूप की प्राप्ति।—

होता है, इसलिये वर्त्तमान क्षण से युक्त वस्तु ही समस्त[1] अर्थक्रियाओं में व्यवहृत होती है, इसलिये वही पारमार्थिक[2] है, उसे भी निरंश[3] मानना चाहिये, क्योंकि अंशों की व्याप्ति युक्तियों से शून्य है, किञ्च अनेक स्वभाव होने के विना एक पदार्थ अनेक पदार्थों के अवयवों में व्याप्त नहीं हो सकता है, यदि कोई यह कहे कि "अनेक स्वभावता ही हो" तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें विरोध आता है-देखो! यदि एक स्वभाव है तो अनेक कैसे हो सकता है? और यदि अनेक है तो एक कैसे हो सकता है? एक और अनेक का परस्पर में परिहार[4] के द्वारा अवस्थान[5] होता है, इसलिये स्वरूप में निमग्न परमाणु ही परस्पर में उससर्पण[6] के द्वारा कथञ्चित् समूह रूप को प्राप्त हो कर तमाम कार्यों में व्यापार भागी होते हैं, इसलिये वे ही स्वलक्षण हैं, किंतु स्थूलता को धारण करने वाली वस्तु पारमार्थिक नहीं है, इस प्रकार इस नय के अभिप्राय से जो अपनी है. वही वस्तु है किन्तु परकीय[7] वस्तु नहीं है, क्योंकि वह उपयोग से रहित है।

शब्द नय यह कहता है कि-रूढ़ि से जितने शब्द किसी अर्थ में प्रवृत्त होते है जैसे कि इन्द्र, शक्र, और पुरन्दर आदि. वे सब ही शब्द प्रतीति से कारण एकही अर्थ को बतलाते हैं, जिस प्रकार अर्थ का शब्दाव्यतिरेक[8] कहा जाता है उस प्रकार उसका एकत्त्व वा अनेकत्त्व कहना चाहिये. इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्याय शब्द कभी भी भिन्नार्थवाचक[9] प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि उन से सर्वदा एक स्वरूप परामर्श[10] की उत्पत्ति होने से अस्खलित[11] वृत्ति होने के द्वारा वैसा ही व्यवहार देखा जाता है. इसलिये पर्याय शब्दों का एक ही अर्थ है।

१—सब। २—यथार्थ। ३—अंश रहित। ४—त्याग। ५—स्थिति। ६—मिश्रण। ७—दूसरे की। ८—शब्द से अभिन्नता। ९—भिन्न अर्थ को बतलाने वाले। १०—विचार। ११—न छिपने वाली।

समभिरूढ़ नय यह मानता है कि पर्याय शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थ है, देखो ! इन्दन के कारण इन्द्र कहा जाता है, तात्पर्य यह है, कि इन्द्र शब्द परमैश्वर्य का वाचक है, वह परमार्थतया[1] तद्वान्[2] पदार्थ में प्रयुक्त[3] होता है तथा व्यवहार की अपेक्षा से अतद्वान[4] में भी प्रवृत्त होता है, देखो ! कोई अपरमैश्वर्यवान्[5] भी उपचार[6] से परमैश्वर्यवान् नहीं हो सकता है, सब शब्दों की प्रवृत्ति परस्पर में भिन्न अर्थ बतलाने के कारण आश्रयाश्रयी भाव से सिद्ध नहीं होती है, इसी प्रकार समर्थ होने से शक्र कहा जाता तथा पुर् का दारण[7] करने से पुरन्दर कहा जाता है, इस प्रकार से सब शब्दों को भिन्न भिन्न अर्थ को यह नय दिखलाता है, अपने कथन में यह प्रमाण भी यह बतलाता है कि पर्याय शब्द भी भिन्न भिन्न अर्थ वाले हैं, क्योंकि वे जुदी जुदी व्युत्पत्ति के कारण होते है, जो जो शब्द जुदी जुदी व्युत्पत्ति से कारण होते हैं वे वे भिन्न भिन्न अर्थ वाले होते हैं, जैसे कि: इन्द्र पशु और पुरुष आदि शब्द, देखो ! पर्याय शब्द भी जुदी जुदी व्युत्पत्ति के कारण हैं, इसलिये वे भिन्न अर्थ वाले हैं।

एवम्भूतनय इस बात को कहता है कि "जिस अर्थ में शब्द व्युत्पन्न[8] किया जाता है, वह अर्थ व्युत्पत्ति के निमित्त में जब ही प्रवृत्त होता है उसी समय वह उस प्रवर्त्तमान[9] शब्द के अभिप्राय से प्रवृत्त होता है किन्तु सामान्यतया प्रवृत्त नहीं होता है, जैसे कि जल आदि के लाने के समय में स्त्री आदि के मस्तक पर रक्खा हुआ विशिष्ट चेष्टा वाला पदार्थ ही घट कहा जाता है, किन्तु शेष घट नहीं कहा जाता है, क्योंकि वह (शेष) पट आदि के समान घट शब्द की व्युत्पत्ति के निमित्त से रहित है, यदि कोई यह कहे कि अतीत[10] और भाविनी

१—वास्तव में। २—उससे युक्त। ३—व्यवहृत। ४—उससे रहित। ५—परम ऐश्वर्य से रहित। ६—व्यवहार। ७—नाश। ८—व्युत्पत्ति से युक्त। ९—प्रवृत्ति करते हुए। १०—भूत।

चेष्टा[1] को मान कर सामान्य से ही कहा जाता है" तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वे (अतीत और भाविनी) वस्तु तो विनष्ट और अनुत्पन्न होने के कारण शश[2] के विषाण[3] के समान हैं, और ऐसा होने पर भी उसके द्वारा शब्द की प्रवृत्ति मानने पर सर्वत्र ही प्रवृत्ति करनी चाहिये, क्योंकि कोई विशेषता[4] तो है नहीं, किञ्च-यदि भूत और भविष्यत् चेष्टा की अपेक्षा से अचेष्टावान्[5] में भी घट शब्द का प्रयोग किया जावे तो कपाल और मृत्पिण्ड आदि में भी उसकी प्रवृत्ति कैसे हट सकती है, क्योंकि कोई विशेषता तो है नहीं, इसलिये यही मानना चाहिये कि जिस क्षण में व्युत्पत्ति का निमित्त अविकल[6] होता है उसी क्षण में वह पदार्थ उसी शब्द से बतलाया जाता है।

ये ही परामर्श अर्भाष्ट धर्म के अवधारण[7] के स्वरूप के द्वारा शेष धर्मों के तिरस्कार से प्रवृत्ति होकर दुर्नय कहे जाते हैं. ये पर प्रवाद[8] स्वस्वबल के प्रभाव से सत्ता से युक्त होते हैं, देखो ! नैगम नय दर्शन के अनुयायी नैयायिक और वैशेषिक हैं, संग्रह नय के अनुयायी सब ही अद्वैतवादी और सांख्य मतानुयायी हैं, व्यवहार नय के अनुयायी प्राय चार्वाक मतावलम्बी हैं, ऋजुसूत्र नय के अनुयामी बौद्ध हैं तथा शब्दादि नयों के अनुयायी वैयाकरण आदि हैं।

नय और दुर्नय का स्वरूप उदाहरण के सहित विस्तार पूर्वक श्री देवसूरि ने अपने ग्रन्थ में कहा है वहाँ देख लेना चाहिये।

अब प्रमाण का कुछ विवेचन किया जाता है—अच्छे प्रकार से पदार्थ का जो निर्णय करता है तथा सर्व नय स्वरूप है उसको

१—होनेवाली। २—खरहा। ३—सींग। ४—भेद, फर्क। ५—चेष्टा से रहित। ६—पूरा का पूरा। ७—निश्चय। ८—दूसरों की उक्तियां।

प्रमाण कहते हैं तात्पर्य यह है कि स्यात् शब्द से युक्त जो नय हैं वे ही प्रमाण कहे जाते हैं।

वह प्रमाण दो प्रकार का है-प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सांव्यावहारिक और पारमार्थिक।

सांव्यावहारिक के दो भेद हैं—इन्द्रिय निमित्तक तथा अनिन्द्रिय, वे दोनों ही प्रत्येक अवग्रह[1], ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार चार प्रकार के हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में केवल आत्मा की ही अपेक्षा होती है, वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) दो प्रकार का है—क्षायोपशमिक[2] और क्षायिक[3], क्षायोपशमिक प्रत्यक्ष अवधि और मनः पर्याय के भेद से दो प्रकार का है तथा क्षायिक प्रत्यक्ष केवल ज्ञान है।

परोक्ष प्रमाण पाँच प्रकार का है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम।

संस्कार के प्रबोध[4] से उत्पन्न, अनुभूतार्थ विषयक "वह है" इस प्रकार का जो ज्ञान है उसको स्मृति कहते हैं।

अनुभव और स्मृति से उत्पन्न होने वाला तिर्यक् और ऊर्ध्वता सामान्यादि विषयक तथा सङ्कलन[5] स्वरूप जो ज्ञान है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं—जैसे कि 'यह गोपिण्ड तज्जातीय ही है" 'गाय के सदृश गवय होता है" तथा "यह वही जिनदत्त है" इत्यादि।

१—अवग्रह आदि का वर्णन ज्ञान वर्णन प्रसंग में पूर्व किया जा चुका है अतः यहां पर इनका वर्णन नहीं किया जाता है। २—क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला। ३—सब कर्मों के क्षय से होने वाला। ४—जागरण। ५—संयोजन।

उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाला, त्रिकाल विषयक साध्य और साधन के सम्बन्ध आदि का आश्रय लेने वाला "यह इसके होने पर ही होता है" इत्यादि स्वरूप वाला जो ज्ञान है उसको ऊह कहते हैं, इसी का नाम तर्क भी है, जैसे कि जितना कोई धूम है वह सब अग्नि के ही होने पर होता है, किन्तु अग्नि के न होने पर नहीं होता है—इत्यादि ।

अनुमान दो प्रकार का है-स्वार्थ और परार्थ, इन में से स्वार्थ अनुमान वह है जो कि साध्यविज्ञान अन्यथानुपपत्ति[1] रूप एक लक्षण वाले हेतु के सम्बन्ध के स्मरण से उत्पन्न होता है, तथा पक्ष और हेतु का कथन करना रूप परार्थ अनुमान है ।

आप्त[2] पुरुष के वचन से प्रकट होने वाला जो पदार्थ ज्ञान है, उसको आगम कहते हैं तथा व्यवहार से आप्त वचन को भी आगम कहते हैं ।

स्मृति आदि का विशेष स्वरूप जानना हो तो स्याद्वाद-रत्नाकर आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ।

कोई लोग-अर्थापत्ति, उपमान, सम्भव, प्रातिभ और ऐतिह्य आदि को भी प्रमाण मानते हैं परन्तु उनका अन्तर्भाव इन्हीं प्रमाणों में हो जाता है, इसलिये उनको पृथक् प्रमाण मानना ठीक नहीं है ।

कोई लोग संनिकर्ष आदि को भी प्रमाणरूप मानते हैं सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे जड़ होने से प्रमाण नहीं हो सकते हैं ।

१—पदार्थ विशेष के विना पदार्थ विशेष की सिद्धि न होना ।
२—यथार्थवक्ता

यहाँ पर संक्षेपतया परमतों का दिग्दर्शन कर अन्त में जैन सिद्धान्त के अनुसार दुर्नय, नय और प्रमाण का स्वरूप यद्यपि अति संक्षेपतया कहा गया है तथापि पूर्ण आशा है कि जैन सिद्धान्तानुगत स्याद्वाद अर्थात् नय और प्रमाण के जिज्ञासु पुरुष इस लेख से लाभ उठा कर जैन सिद्धान्त के महत्त्व को अपने हृदय में स्थान देकर कल्याणभागी बनेंगे।

इति तृतीय प्रकरणम्।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

श्रीः

श्री भूरसुन्दरी विद्याविलास ग्रन्थ का

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	भारि	मार
६	५	मिल	मिलि
६	२४	प्रानन्द	आनन्द
६	२५	अन्त	अन्त
९	११	सम्मेतनी के	सम्मेत नीके
९	२३	न्वदर	वन्दर
११	१६	पाना	याना
१४	१	आप	आय
१४	२३	गंटी	गटी
१४	२५	झंठो	झूंठो
१४	२५	झंठी	झूंठी
१५	६	डटा	डटी
१५	१०	ह्यद	हृदय
१५	१६	राजा	राजत
१५	२३	छट	छठ
१७	७	माधव दीतिथि	माघ वदी तिथि
१८	१६	सुदी छोत्सव	सुदीच्छोत्सव
१६	२४	ल्याणदायक	कल्याण-दायक
२१	१०	भहिमेर	महिमेरे
२१	२५	सुवण	सुवर्ण
२२	१५	पात	यान
३१	२०	संपति	संयति
३२	२	तेता	नेता
३३	२	देव	देवि
३३	११	प्राणतजन	प्राणत जन
३३	१६	सख्या	संख्या
३५	१	सुदित	मुदित
३६	५	पाना	याना
३७	१४	ते	ने
३८	४	मोहिं पंकज	मो हिय कंज
४०	११	विरधक	विराधक
४०	१२	भव सिद्धि	भवसिद्धि है,
४०	१८	श्रावकाओं	श्राविकाओं
४१	२३	तापतिकी	तापनिकी
४१	२४	साधुता	साधु
४२	३	परितापता	परितापना
४२	४	पारितापतिकी	पारितापनिकी
४२	१४	खङ्ग	खड्ग
४२	१४	करता	करना
४२	१८	पारितापतिकी	पारितापनिकी
४२	१६	कृतपारिता-पतिकी	कृतपारिता-पनिकी
४२	१६	कारितपारि-तापतिकी	कारितपारि-तापनिकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	२०	परितापता	परितापना
४२	२०	कृतपारिता-पतिकी	कृतपारिता-पनिकी
४२	२१	परितापता	परितापना
४२	२२	पारिता-पति की	पारिता-पनिकी
४४	१८	वेक्रिय	वैक्रिय
४७	१६	तथा रूर	तथारूप
४७	१८	तथा विध	तथाविध
४८	२	(आहे	(आहे)
५१	२२	भागों	भाँगों
५१	२५	भागे	भाँगे
५४	५	सोपचय, सापचय	सोपचय-सापचाय
५४	११	भागों	भाँगों
५४	११	समुचयतथा	समुचयतया
५४	१२	(निरुपचय-निरपचय	निरुपचय-निरपचय)
५४	२१	निरुपचय	निरपचय
५४	८	पागे	पाये
५५	६	आवलिका	आवलिका का
५५	१८	भगवान्	भगवन्
५६	११	साम्पारायिकी	साम्परायिकी
५६	१२	ईर्पापथिकी	ईर्यापथिकी
५६	१४	लाती	लगती
५६	२०	चतुर्विधि	चतुर्विध
५७	१४	इसका	इनका
५७	२१	गृन्धु	गृध्नु
५७	२१	रोज	जो
५७	२३	आसुक	प्रासुक
५९	४	चारित्राधना	चारित्राराधना
५९	१९	राधाना	राधना
५९	२०	निश्चयता	निश्चयतया
६१	२३	विशिष्ट	विशिष्ट
६४	१	निष्पति	निष्पत्ति
६५	४	निरोग	नीरोग
६६	८	निष्पन्न	निष्पन्न
६७	१२	अन्तमुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त-
६७	२३	सत्य है	सत्य
६८	२०	जानाना	जानना
६९	४	स्वयं	स्वयं
६९	२३	प्रताख्यात	प्रत्याख्यान
७१	२	मैं	में
७३	१६	करता	करना
७४	४	परिणाम	परिमाण
७७	२१	मास	मांस
७८	१४	सामयिक	सामायिक
८०	१०	अर्थात्	अर्थात्
८५	१६	कल्यणर्थी	कल्याणार्थी
८६	२०	कामिनि	कामिनी
८७	१	समय उक्त में	समय में उक्त
८७	२३	चाहिऐं	चाहियें
८८	२४	तृष्णा	तृषा
९२	१५	जातिय	जातीय
९४	१५	काठे	कोठे
९४	१८	घुसाना	घुसना
९४	२१	श्वेताम्बररियों	श्वेताम्बरियों
९४	२४	परिगाहो	परिग्गहो
९४	२४	वुतो	वुत्तो
९५	१२	सन्मत	सम्मत
९५	१४	औद	और
९७	४	वोधक	बोधिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९७	१२	स्थिति	स्थित
९९	२	शरद	शरद्
९९	१०	स्थिति	स्थित
१०३	७	मन	मनः
१०३	२२	ज्ञान	ज्ञान)
१०३	२२	सचेप	संचेप
१०४	१०	निमित	निमित्त
१०४	१२	निमित्ति	निमित्त
१०४	१८	अत्तो	अत्तों
१०४	२३	मिन्द्रिय	मिन्द्रियं
१०४	२३	हुपीकं	हृपीकं
१०४	२३	फरणं	करणं
१०७	४	अवश्व	अवश्य
१०९	१२	इंद्रियपञ्च	इंद्रियपच्च
१०९	१२	इन्द्रियपञ्चक्खं	इंद्रियपच्चक्खं
१०९	१५	व्यव	व्यवधान
१०९	१६	संसार प्रत्यक्ष में	संसार में प्रत्यक्ष
११०	६	अपेत्ता	अपेत्ता से
११२	१२	काद	कादि
११२	१२	औदायिक	औदयिक
११२	१५	त्तायोपशम	चयोपशम
११२	२४	कसते	कहते
११३	१३	पुरुतो	पुरतो
११३	२२	उत्सुक	उल्मुक
११३	२३	सिकोर	सिकोरें
११३	२६	ऽन्तु	ऽन्त
११४	१४	गति	गत
११५	२०	उपरज्जित	उपरञ्जित
११५	२३	द्रव्य	द्रष्टव्य
११६	२४	संख्येक	संख्येय
११८	२५	वर्णणा	वर्गणा
११९	१०	अवाहय	अबाह्य
११९	२१	तात्पर्य्य	तात्पर्य
१२०	२०	है	हैं
१२०	२१	अक्रम	अकर्म
१२०	२३	एकोढकादि	एकोरुकादि
१२२	१२	संयत्	संयत
१२२	१६	सयता	संयता
१२२	१९	सम्यग्ः	सम्यग्
१२२	२३	उन की	उनको
१२४	१४	प्रपरों	प्रतरों
१२४	२३	प्रभूतत्त	प्रभूततर
१२४	२३	रनिर्मलतर	निर्मलतर
१२५	२४	नाज्ञो	ज्ञानो
१२६	१	संयोगि	सयोगि
१२६	२	संयोगि	सयोगि
१२६	१४	बोधिन	बोधित
१२७	१९	कषाप	कषाय
१२८	१०	है	हैं
१२८	१२	लापय	लाप्य
१२८	१२	अनभिलापय	अनभिलाप्य
१२८	१३	अभिलापय	अभिज्ञाप्य
१२८	१४	अभिलाप्य	अभिलाप्य
१२९	८	श्रुतज्ञानभी होता है	श्रुत ज्ञान भीहोता है तथा अश्रुत ज्ञान भी होता है
१२९	१५	श्रवणा	श्रवण
१३०	१	अभिनिबोधिक	आभिनि-बोधिक
१३०	४	अश्रुति	अश्रुत
१३०	५	पिकी	थिकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	१६	विनष्टा	विनष्ट
१३१	३	कहते[3]	कहते
१३१	४	उपयोग[4]	उपयोग[3]
१३१	४	सार[5]	सार[4]
१३१	५	प्रसङ्ग[6]	प्रसङ्ग[5]
१३१	५	धन्यवादरूपी[7]	धन्यवाद-रूपी[6]
१३१	६	कर्मजा	कर्मजा।[7]
१३२	२	अथविग्रह[1]	अर्थावग्रह[1]
१३२	२२	लान	जान
१३५	२०	धारणा	धारणा
१३६	२१	अग्रता	अग्रता
१४१	२	वसूघस्पष्ट	बद्धस्पृष्ट
१४२	२	संज्ञ	संज्ञि
१४२	२	सम्यक	सम्यक्
१४२	१८	अकरादि	अकारादि
१४३	५	उच्छुसित	उच्छ्वासित
१४३	५	निःश्वा	निःश्व
१४३	१५	लब्ध्यन्त	लब्ध्यक्षर
१४४	२२	एकेन्द्रि	एकेन्द्रिय
१४५	१६	चयोपशमिक	क्षायोपशमिक
१४५	१६	द्रष्टि	दृष्टि
१४५	१८	के उपाधि	उपाधि के
१४६	२	अभिन	अभिन्न
१४६	११	सम्यक्त	सम्यक्त्व
१४६	११	ही ये	ये ही
१४६	१६	अवग्र	अवग्रह
१४६	२४	सम्यक्त्व	सम्यक्
१४७	१०	सो	से
१४७	१५	जाती[14]	जाती[13]
१४७	१५	जाता[15]	जाता[14]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	७	निष्पत्ति	निष्पत्ति
१४८	७	जीवों को	जीवों का
१४८	१४	द्रविष्ट	प्रविष्ट
१४६	४	तत्तर	उत्तर
१४६	४	सामयिक	सामायिक
१४६	४	चतुर	चतु
१५०	१८	प्रतिपदक	प्रतिपादक
१५१	३	वृष्ठि	वृष्णि
१५१	२१	विषयों को	विषय का
१५१	२१	प्रतिवादक	प्रतिपादक
१५१	२३	अनुसरणका	अनुसरणकर
१५२	१	दश	दशा
१५२	१०	संख्येक	संख्येय
१५२	१०	पत्तिया[11]	पत्तियाँ[11]
१५२	१२	आचरनादि	आचरित
१५२	१८	पात्रा	यात्रा
१५३	१	अध्यन	अध्ययन
१५३	२	देश्यन	देशन
१५३	१५	होती	होती है
१५३	१८	निर्युक्त	निर्युक्ति
१५४	६	है,	हैं,
१५४	१३	आख्या	आख्यान
१५४	१४	प्ररूपणाकी गई है	प्रज्ञापना की गई है प्ररूपणा की गई है
१५४	२१	पृथक पृथक	पृथक् पृथक्
१५४	२३	चाहिंये	चाहियें
१५५	६	हृद	हद
१५५	११	इचीस	इकीस
१५६	१३	द्वारा	द्वार
१५६	१६	ह,	हैं,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	६	अजीवों	अजीवों का
१५७	१५	सहस्त्र	सहस्र
१५८	१४	क्रिआओं	क्रियाओं
१५८	१५	दश[2] वर्ग	दश वर्ग[2]
१५६	१६	आख्याधिकाएँ	आख्यायिकायें
१५८	१६	आख्याधिका	आख्यायिका
१५८	२३	अध्यय	अध्ययन
१५९	३	संयेय	संख्येय
१५९	५	संयेय	संख्येय
१६०	३	संयेय	संख्येय
१६०	६	प्रज्ञप्ति	प्रज्ञप्त
१६१	३	द्वारा	द्वार
१६१	७	संहस्त्र	सहस्र
१६१	२३	विमल	विमान
१६१	२४	अध्यनों	अध्ययनों
१६१	२४	अनुतरौ	अनुत्तरौ
१६२	३	प्रत्यायानों	प्रत्याख्यानों
१६२	६	है	हैं
१६२	१०	है,	हैं,
१६३	६	हैं,	है,
१६४	६	धर्माचार्या	धर्माचार्यों
१६५	११	किया गया	किया गया है
१६५	१६	(दर्शन)	दर्शनों
१६५	२१	हैं	है
१६६	२२	उपसम्पर्यण	उपसम्पर्यणा
१६७	२	उपसम्पर्प	उपसम्पर्य
१६९	२४	गडिका	गण्डिका
१७०	१६	वाहानादिकों	वाहनादिकों
१७१	५	संख्येक	संख्येय
१७१	२१	परिकर्म	परिकर्म,
१७२	३	भवसिद्धक	भवसिद्धिक
१७२	२०	द्वयणु	द्व्यणु
१७५	१८	अविघात	अभिघात
१७५	२४	सम्बधी	सम्बन्धी
१७६	२२	ग्रन्ध	अन्ध
१७६	२३	ब्यास	व्यास
१७७	४	नियत्व	नित्यत्व
१७७	१५	बुद्धिमान	बुद्धिमान्
१८०	१८	साधारण	साधारणा
१८२	१०	अद्वीतीय	अद्वितीय
१८५	२२	संग्रहत्ती	संग्रहणी
१८५	२२	यर्णन	वर्णन
१८८	१२	कुजालदण्ड[4]	कुजाल[4] दण्ड
१९०	१८	रवार्थ	स्वार्थ
१९१	२०	प्रतीत	प्रतीति
१९३	२६	मध्वर्त्ती	मध्यवर्त्ती
१९५	३	का हेतु[2]	का[2] हेतु
१९५	१५	भीतरभिन्न[6]	भी तद-भिन्न[6]
१९७	२४	विपरीति	विपरीत
१९८	२२	सन्तानहोनेसे	"सन्तान होने से"
१९९	२४	रहने वाले	रहने वाला
२००	१८	बुद्धिमान	बुद्धिमान्
२०२	१७	कथञ्चित	कथञ्चित्
२०२	२२	स्थिति	स्थित
२०२	२५	कर्मो	कर्मों
२०४	१५	तुम्हार	तुम्हारा
२०४	२२	ज्ञानस्वरूप	ज्ञानस्वरूपा
२०८	१०	आत्मा	आत्मा,
२०८	१३	प्रवृति	प्रवृत्ति,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०८	१३	अन्तरभाव	अन्तर्भाव
२०८	१७	है	हैं
२११	८	क्ररने	करने
२११	१५	प्रतीति	प्रतीत
२१२	१०	परिचित स्पष्ट[६]	परिचित[६] स्पष्ट
२१६	२२	ज्ञनवन्	ज्ञानवान्
२१९	२	आध्यमत्मिक	आध्यात्मिक
२१९	२०	ह	यह
२१९	२१	अध्ववसाय	अध्यवसाय
२२१	२४	पृथक्त्व	पृथक्त्व
२२२	२१	उपचार[०]	उपचार[१०]
२२३	४	अभ्यास	अध्यास
२२४	२४	र ि त	रहित
२२६	२१	मौक्ति	मौक्तिक
२२७	३	किया गयागया	किया गया
२२७	५	अकृतकर्म[३]भोग	अकृतकर्म भोग[३]
२२७	११	पूर्वजन्म[४]कृतकर्म	पूर्वजन्मकृतकर्म[४]
२२७	२१	अन्यवी	अन्वयी
२३०	५	रवरूर	स्वरूप
२३०	५	मनमें	[illegible]
२३३	२४	[illegible]	[illegible]
२३६	२१	अववक्षा	अविवक्षा
२३९	३	यदि अपने	अपने
२४१	३	वृक्ति	वृत्ति
२४१	१९	उपाख्यारहित[८]	उपाख्या[८] रहित
२५०	१२	यथार्थस्वरूप[४]	यथार्थ[४]स्वरूप
२५१	६	है	हैं
२५१	२३	वाला	वाले
२५१	२४	वाल	वाले
२५२	११	परमार्थिक	पारमार्थिक
२५२	२०	अतीति	अतीत
२५२	२४	मविष्यत्	[illegible]
२५३	१०	उससर्पण	उपसर्पण
२५४	१३	से	के
२५५	१२	प्रवृत्ति	प्रवृत्त
२५५	१६	प्राय	प्रायः
२५५	१६	अनुयामि	अनुयायी
२५८	३	पूण	[illegible]
१भू०	४	अध्यात्मक	[illegible]
३भू०	१३	एकार	प्रकार
४भू०	९	अनुग्रहीत	अनुगृहीत
४भू०	१०	का	को
४भू०	११	पूव	पू[illegible]

श्री जैन बन्धुओं के लिये अपूर्व लाभ

तीन अपूर्व रत्न

प्रिय जैन बन्धुओ !

यदि आपको मानव जीवन के यथार्थ लक्ष्य के जानने की अभिरुचि हो, भव्य जीवों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विज्ञान प्राप्त करना हो, श्री जैन सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों के विज्ञान की अभिलाषा हो, धर्म और अधर्म के यथार्थ स्वरूप के जानने की वाञ्छा हो, श्री जैन सिद्धान्त में कहे हुए नव तत्त्वों के विज्ञान की कामना हो, कर्मों के भेद और उनके विपाक की जिज्ञासा हो, भगवद्भक्ति के द्वारा आत्मा को शान्ति-सुख देने की लालसा हो तथा आत्म सम्बन्धी लौकिक एवं पारलौकिक विविध विषयों का विज्ञान प्राप्त करना हो तो सतीशिरोमणि श्री १००८ आर्या भूरसुन्दरीजी महाराज के बनाये हुए—"भूरसुन्दरी विवेक विलास" "भूरसुन्दरी बोध विनोद" और "भूरसुन्दरी अध्यात्म-बोध" नामक तीनों ग्रन्थरत्नों को १) एक रुपया डाकव्यय के लिये भेजकर नीचे लिखे पते से बिना मूल्य मंगवाकर उनका अवश्य अवलोकन कीजिये। थोड़ी सी प्रतियां बाकी हैं अतः शीघ्रता कीजिये।

मिठ्ठनलाल कोठारी, पल्लीवाल जैन

स्वदेशी भण्डार

भरतपुर (राजपूताना)